

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

दर्शन वडोदरिया

SURABHI PUBLICATIONS

ANAND-388001

Published by

Surabhi Publications

516, Virani Chambers

Opp. Taskent Petrol Pump, Sardar Gunj Anand-388001

e-mail: ibd2692@gmail.com

M.: 09429252719, 09426583589

3298 US HIGHWAY

259 NORTH KILGORE TX 75662

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

© Reserved 2012

ISBN: 978-93-85099-03-8

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical or photocopying or otherwise, without prior permission in writing from the publishers/author.

Printed in India

Published by: Abhishek Dahulia for Surabhi Publications Anand & Typeset by Lucky Graphic Delhi & Printed at Amba Offset, Delhi-93.

भूमिका

अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त में सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य से अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। यह एक ऐसा वैचारिक ढाँचा प्रदान करने का प्रयास करता है जिससे अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा सके। ओले होल्स्ती कहता है कि अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त रंगीन धूप के चश्में की एक जोड़ी के रूप में कार्य करते हैं, जो उसे पहनने वाले व्यक्ति को केवल मुख्य सिद्धान्त के लिए प्रासंगिक घटनाओं को देखने की अनुमति देता है। अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में यथार्थवाद, उदारवाद और रचनावाद, तीन सबसे लोकप्रिय सिद्धांत हैं।

अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त मुख्यतः दो सिद्धान्तों में विभाजित किये जा सकते हैं, "प्रत्यक्षवादी/बुद्धिवादी" जो मुख्यतः राज्य स्तर के विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। और उत्तर-प्रत्यक्षवादी / चिन्तनशील जो अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त में उत्तर औपनिवेशिक युग में सुरक्षा, वर्ग, लिंग आदि के विस्तारित अर्थ को शामिल करवाना चाहते हैं। आईआर सिद्धान्तों में 443333 विचारों के अक्सर कई विरोधाभासी तरीके मौजूद हैं, जैसे अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में रचनावाद, संस्थावाद, मार्क्सवाद, नव-ग्रामस्कियनवाद, और अन्य। हालाँकि, प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के स्कूलों में सबसे अधिक प्रचलित यथार्थवाद और उदारवाद हैं। यद्यपि, रचनावाद अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में तेजी से मुख्यधारा होता जा रहा है।

अनुक्रम

1	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का परिचय	9
2	राष्ट्रीय शक्ति	31
3	शक्ति सन्तुलन	46
4	शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण	62
5	वैश्वीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध	93
6	गुटनिरपेक्षता	130
	सदर्भ सूची	159

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय संबंध (IR) विभिन्न देशों के बीच संबंधों का अध्ययन है, साथ ही साथ सम्प्रभु राज्यों, अन्तर-सरकारी संगठनों (IGOs), अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों (INGOs), गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) और बहुराष्ट्रीय कंपनियों (MNCs) की भूमिका का भी अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को कभी-कभी "अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन" (इंटरनेशनल स्टडीज (IS)) के रूप में भी जाना जाता है, हालांकि दोनों शब्द पूरी तरह से पर्याय नहीं हैं।

परिभाषा

साधारण शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति" का अर्थ है "राज्यों के मध्य राजनीति करना"। यदि "राजनीति" के अर्थ का अध्ययन करें तो तीन प्रमुख तत्व सामने आते हैं—

- (क) समूहों का अस्तित्व।
- (ख) समूहों के बीच सहमति।
- (ग) समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति। इस आशय को यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आकलन करें तो ये तीन तत्व मुख्य रूप से —
 - (१) राज्यों का अस्तित्व।
 - (२) राज्यों के बीच संघर्ष।
 - (३) अपने राष्ट्रहितों की पूर्ति हेतु शक्ति का प्रयोग आते हैं। अतः

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उन क्रियाओं का अध्ययन करना है जिसके अंतर्गत राज्य अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु शक्ति के आधार पर संघर्षरत रहते हैं।

इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख लक्ष्य होते हैं। संघर्ष इसका दिशा निर्देश तय करती है, तथा शक्ति इस उद्देश्य प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता है।

परन्तु उपर्युक्त परिभाषा को हम परम्परागत मान सकते हैं, क्योंकि आज 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' का स्थान इससे व्यापक अवधारणा 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों' ने ले लिया है। इसके अंतर्गत राज्यों के परस्पर संघर्ष के साथ-साथ सहयोगात्मक पहलुओं को भी अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज 'राज्यों' के अलावा अन्य कई कारक भी अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र बन गए हैं। अतः इसके अंतर्गत आज व्यक्ति, संस्था, संगठन व कई अन्य गैर-राज्य इकाइयाँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इसका वर्तमान आधार व विषय क्षेत्र आज काफी व्यापक स्वरूप ले चुका है। इन सभी विषयों पर चर्चा से पहले अलग-अलग विद्वानों द्वारा दी गई निम्न परिभाषाओं की समीक्षा करना अति अनिवार्य हो जाता है—

परम्परागत परिभाषाएँ

इन परिभाषाओं का दायरा अति सीमित है, क्योंकि इसके अंतर्गत मूलतः 'राज्यों' को ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारक के रूप में माना गया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप तक ही सीमित है। मुख्य रूप से हेंस जे. मारगेन्थाऊ, हेराल्ड स्पाऊट, बोन डॉयक, थाम्पसन आदि इसके मुख्य समर्थक हैं जो इनकी निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है—

- (१) **हेंस जे. मारगेन्थाऊ**— "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।"
- (२) **हेराल्ड स्पाऊट**— "स्वतन्त्रा राज्यों के अपने-अपने उद्देश्यों एवं हितों के आपसी विरोध-प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी प्रतिक्रिया एवं संबंधों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"
- (३) **वोन डॉयक**— "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की सरकारों के मध्य शक्ति संघर्ष है।"

- (४) **थाम्पसन**— “राष्ट्रों के मध्य प्रारम्भ प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ उनके आपसी संबंधों को सुधारने या खराब करने वाली परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।”

समसामयिक परिभाषाएँ

नवीन परिभाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यापक स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की चर्चा की गई है। इसमें राज्य के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नवीन कारकों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, देशांतर समूह, गैर सरकारी संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, कुछ व्यक्तियों आदि को भी सम्मिलित किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें संघर्ष के साथ-साथ सहयोग तथा राजनीति के साथ-साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इसे प्रभावित करने वाले अर्थात्, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, विज्ञान एवं तकनीकी आदि पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। विभिन्न लेखकों की निम्नलिखित परिभाषाओं से यह आशय अति स्पष्ट रूप में उजागर हो जाता है—

- (१) **नार्मन डी. पामर व होवार्ड सी परकिंस**— “अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में राष्ट्र राज्यों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा समूहों के परस्पर संबंधों के अतिरिक्त और बहुत कुछ सम्मिलित है। यह विभिन्न स्तर पर पाये जाने वाले अन्य संबंधों का भी समावेश करता है जो राष्ट्र राज्य के ऊपरी व निचले स्तर पर मिलते हैं। परन्तु यह राष्ट्र राज्य को ही अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का केन्द्र मानता है।”
- (२) **स्टेनले होफमैन**— “अन्तर्राष्ट्रीय संबंध उन तत्वों एवं गतिविधियों से सम्बन्धित है, जो उन मौलिक ईकाइयों जिनमें विश्व बंटा हुआ है, की बाह्य नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है।”
- (३) **विंसी राइट**— “अन्तर्राष्ट्रीय संबंध केवल राज्यों के संबंधों को ही नियमित नहीं करता अपितु इसमें विभिन्न प्रकार के समूहों जैसे राष्ट्र, राज्य, लोग, गठबंधन, क्षेत्र, परिसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, औद्योगिक संगठन, धार्मिक संगठन आदि के अध्ययनों को भी शामिल करना होगा।”

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप प्रारम्भ से वर्तमान तक बहुत व्यापक हो जाता है। इसमें आज राष्ट्र राज्यों के साथ विभिन्न विश्व इकाइयों एवं संगठनों के अध्ययन का समावेश हो चुका है। परन्तु इन सभी परिवर्तनों के बाद भी इन अध्ययनों का केन्द्र बिन्दु आज भी राष्ट्र राज्य ही है।

स्वरूप

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप के बारे में निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं।

- (१) इन परिभाषाओं से एक बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अभी भी बदलाव के दौर से गुजर रही है। इसके बदलाव की प्रक्रिया अभी स्थाई रूप से स्थापित नहीं हुई है। अपितु यह अपने विषय क्षेत्र के बारे में आज भी नवीन प्रयोगों एवं विषयों के समावेश से जुड़ी हुई है।
- (२) एक अन्य बात यह उभर कर आ रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत जटिल है। इसके अध्ययन हेतु बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता होती है।
- (३) यह निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राज्य ही है, परन्तु यह भी काफी हद तक सही है कि इसके अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त विभिन्न संगठनों, समुदायों, संस्थाओं आदि का अध्ययन करना अति अनिवार्य हो गया है।
- (४) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु विभिन्न स्तरों एवं आयामों का अध्ययन आवश्यक है। अतः इस विषय का अध्ययन अन्ततः अनुशासकीय आधार पर अधिक कुशलता— पूर्वक हो सकता है।
- (५) इसके अध्ययन हेतु नवीन दृष्टिकोणों की उत्पत्ति हो रही है। जैसे— जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बदलाव आता है उसके अध्ययन एवं सामान्यीकरण हेतु नये उपागमों की आवश्यकता होती है। उदाहरण स्वरूप, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जहां यथार्थवाद, व्यवस्थावादी, क्रीड़ा, सौदेबाजी, तथा निर्णयपरक उपागमों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार अब उत्तर शीतयुद्ध युग में उत्तर आधुनिकरण, विश्व व्यवस्था, क्रिटिकल सिद्धान्त आदि की उत्पत्ति हुई। भावी विश्व में भी वैश्वीकरण व इससे जुड़े मुद्दों पर नये उपागमों के कार्यरत होने की व्यापक सम्भावनाएँ हैं।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप परिवर्तनशील है। जब—जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवेश, कारकों व घटनाक्रम में परिवर्तन आयेगा, इसके अध्ययन करने के तरीकों व दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, यह

परिवर्तन स्थाई न होकर निरन्तर है। इसके साथ-साथ विभिन्न कारकों, स्तरों, आयामों आदि के कारण यह बहुत जटिल है अतः इसके सुचारु अध्ययन हेतु बहुत स्पष्ट, तर्कसंगत, व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।

विषय क्षेत्र

जैसा उपर्युक्त परिभाषाओं एवं स्वरूप से ज्ञात है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। आज इसका विषय क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है जिसके अंतर्गत निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया जाता है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में विभिन्न बदलाव के बाद भी आज भी इसका मुख्य केन्द्र बिन्दु राज्य ही है। मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य अन्तः क्रियाओं पर ही आधारित होती है। प्रत्येक राज्यों को अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सीमाओं में रह कर ही कार्य करने पड़ते हैं। परन्तु इन कार्यों के करने हेतु विभिन्न राज्यों में संघर्षात्मक व सहयोगात्मक दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इन्हीं प्रतिक्रियाओं, इनसे जुड़े अन्य पहलुओं का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की प्रमुख सामग्री होती है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का दूसरा महत्वपूर्ण कारक शक्ति का अध्ययन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त कई दशकों तक विशेषकर शीतयुद्ध काल में, यह माना गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख उद्देश्य शक्ति संघर्षों का अध्ययन करना मात्रा ही है। यथार्थवादी लेखक, विशेषकर मारगेन्थाऊ, तो इस निष्कर्ष को अति महत्वपूर्ण मानते हैं कि “अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल राज्यों के बीच शक्ति हेतु संघर्ष” है।

वे ‘शक्ति’ को ही एक मात्रा कारण मानते हैं जिस पर सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा परस्पर राज्यों के संबंधों की नींव टिकी है। परन्तु पूर्ण रूप से यह सत्य नहीं है। शायद इसीलिए हम देखते हैं कि शीतयुद्धोत्तर युग में शक्ति संघर्ष के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि संबंध भी उतने ही महत्वपूर्ण बन गये हैं। हां इस तथ्य को भी पूर्ण रूप से नहीं नकार सकते कि शक्ति आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण कारक है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अन्य कारक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का

अध्ययन भी है। आधुनिक युग राज्यों के बीच बहुपक्षीय संबंधों का युग है। राज्यों के इन बहुपक्षीय संबंधों के संचालन में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। ये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, सैन्य, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग के मार्ग प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठन जैसे विश्व बैंक, मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, नाटो, यूरोपीय संघ, नाटो, दक्षेस, आशियान, रेड क्रॉस, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को आदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रमुख हिस्सा बन गए हैं।

- (४) युद्ध व शान्ति की गतिविधियों का अध्ययन भी आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अभिन्न अंग बन गया है। यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति न तो पूर्ण रूप से सहयोग तथा न ही पूर्ण रूप से संघर्ष पर आधारित है। अतः मतभेद व सहमति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सहचर हैं। इन दोनों की उपस्थिति का अर्थ है यहां युद्ध व शान्ति दोनों की प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। विभिन्न मुद्दों पर आज भी राष्ट्रों के मध्य युद्ध के विकल्प को नहीं त्यागा है। शीतयुद्ध के साथ-साथ राज्यों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध आज भी हो रहे हैं। बल्कि वर्तमान विज्ञान के विकास व हथियारों के अति आधुनिकतम रूप के कारण आज युद्ध और भी भयानक हो गए हैं। युद्ध आज प्रारम्भ होने पर दो राष्ट्रों के लिए भी घातक नहीं, अपितु, सम्पूर्ण मानवता का विनाश भी कर सकते हैं। इसीलिए युद्धों को रोकने हेतु शान्ति प्रयासों पर भी अत्यधिक बल दिया जाता है। इसीलिए इन युद्ध व शान्ति के पहलुओं का अध्ययन करना ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख भाग बन गया है।
- (५) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का संवर्धन एवं अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रक्रिया केवल एक समय की न होकर निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया का प्रकटीकरण राज्यों की विदेश नीतियों के माध्यम से होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विदेशी नीतियों का आकलन एक अभिन्न अंग बन गया है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की इन विदेश नीतियों के स्वरूप से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में भी बदलाव आता है। इन्हीं के कारण विश्व में शांति व सहयोग अथवा युद्ध की परिस्थितियों को जन्म मिलता

है। न केवल वर्तमान बल्कि भावी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप भी इन्हीं राज्यों के आपसी संबंधों की प्रगाढ़ता एवं तनाव पर निर्भर करता है। अतः विभिन्न विदेश नीतियों अध्ययन व आंकलन भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्त्वपूर्ण विषय क्षेत्र है।

- (६) राष्ट्रों के मध्य सुचारु, सुसंगठित एवं सुस्पष्ट संबंधों के विकास हेतु कुछ नियमावली का होना अति आवश्यक होता है। अतः राज्यों के परस्पर व्यवहार को नियमित करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की आवश्यकता हेतु है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सुचारु स्वरूप एवं भविष्य के दिशा निर्देश हेतु भी इनकी आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्धों को रोकने, शान्ति स्थापित करने, हथियारों की होड़ रोकने, संसाधनों का अत्यधिक दोहन न करने, भूमि, समुद्र व आन्तरिक को सुव्यवस्थित रखने आदि विभिन्न विषयों पर राज्यों की गतिविधियों को सुचारु करने हेतु भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का होना आवश्यक है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का समावेश भी आवश्यक हो गया है।
- (७) राज्यों की गतिविधियों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक मुद्दों का अध्ययन भी काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। परन्तु शीतयुद्ध के संघर्षों के कारण 1945-91 तक राजनीतिक मुद्दे ज्यादा अग्रणीय रहे तथा आर्थिक मुद्दे अति महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। तथा राजनीतिक मुद्दे गौण हो गए हैं। वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में ज्यादातर राज्य आर्थिक सुधारों, उदारवाद, मुक्त व्यापार आदि के दौर से गुजर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन अति महत्त्वपूर्ण हो गया है। आज संयुक्त राष्ट्र की राजनीतिक ईकाइयों की बजाय विश्व व्यापार संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। अब राजनीतिक विचारधाराओं के स्थान पर नए अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, उत्तर दक्षिण संवाद, विकासशील देशों में कर्ज की समस्या, व्यापार में भुगतान संतुलन, बाह्य पूंजीनिवेश, संयुक्त उद्यम, आर्थिक सहायता आदि विषय अत्यधिक महत्व के हो गए हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इन आर्थिक संस्थाओं, संगठनों व कारकों का अध्ययन करना अनिवार्य हो गया है।
- (८) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान स्वरूप से यह स्पष्ट है कि अब इस विषय के अंतर्गत राज्यों के अतिरिक्त गैर सरकारी संगठनों की भूमिकाएं

भी महत्वपूर्ण होती जा रही हैं। दूसरी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बढ़ते विषय क्षेत्र के साथ-साथ इसमें कार्यरत संस्थाओं एवं संगठनों का विकास भी हो रहा है। तीसरे, अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण मुद्दे भी आ रहे हैं, जो मानवता हेतु ध्यानाकर्षण योग्य बन गए हैं। इन सभी कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का दायरा भी विकसित होता जा रहा है। आज इसमें राजनीतिक ही नहीं बल्कि गैर-राजनीतिक विषय जैसे पर्यावरण, नारीवाद, मानवाधिकार, ओजोन परत क्षीण होना, मादक द्रवों की तस्करी, गैर कानूनी व्यापार, शरणार्थियों व विस्थापितों की समस्याएँ आदि भी महत्वपूर्ण हिस्सा बनते जा रहे हैं। इसके साथ-साथ गैर-सरकारी संस्थानों (एन.जी.ओ.) की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती जा रही है। विभिन्न स्तरों पर राज्यों के विभिन्न मुद्दों से जुड़े कई स्थानिय या क्षेत्र संगठन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दायरे में मात्रा परंपरागत विषय क्षेत्र तक सीमित न रहकर समसामयिक विषयों को भी सम्मिलित कर लिया है। इसीलिए इन सभी समस्याओं, संगठनों, पहलुओं आदि का अध्ययन भी आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण हो गया है।

अतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय क्षेत्र आज बहुत व्यापक व जटिल होने के साथ-साथ विकास की ओर अग्रसर है। इसके अंतर्गत विभिन्न परम्परागत कारकों के साथ-साथ गैर-परम्परागत कारकों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विकास के चरण

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का इतिहास ज्यादा प्राचीन नहीं है, बल्कि यह विषय बीसवीं शताब्दी की उपज है। स्पष्ट रूप से देखा जाए तो वेलज विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय वुडरो विल्सन पीठ की 1919 में स्थापना से ही इसका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस पीठ पर प्रथम आसीन होने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर ऐल्फर्ड जिमर्न थे तथा बाद में अन्य प्रमुख विद्वान जिन्होंने इस पीठ को सुशोभित किया उनमें से प्रमुख थे – सी.के. वेबस्टर, ई.एच.कार, पी. ए. रेनाल्ड, लारेंस डब्लू. माटिन, टी.ई. ईवानज आदि। इसी समय अन्य विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएं देखने को मिली। अतः पिछली एक शताब्दी के इस विषय के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो इस विषय में आये

उतार-चढ़ाव के साथ-साथ इसके एक स्वायत्त विषय में स्थापित होने के बारे में जानकारी मिलती है। इस विषय में आये बहुआयामी परिवर्तनों ने जहां एक ओर विषय वस्तु का संवर्धन, समन्वय तथा विकास किया है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके बहुत सी जटिल समस्याओं एवं पहलुओं को समझने में सहायता प्रदान की है।

केनेथ थाम्पसन ने सन् 1962 के "रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स" में प्रकाशित अपने लेख में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास को चार भागों में बांटा है, जिसके आधार पर इस विषय का सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित अध्ययन सम्भव हो सकता है। विकास के इन चार चरणों में शीतयुद्धोत्तर युग के पांचवें चरण को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से है—

- (१) कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व, (प्रारम्भ से 1919 तक)
- (२) सामयिक घटनाओं/समस्याओं का अध्ययन, (1919 — 1939)
- (३) राजनीतिक सुधारवाद का युग, (1939 — 1945)
- (४) सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह, (1945 — 1991)
- (५) वैश्वीकरण व गैर-सैद्धान्तिकरण का युग, (1991 — 2003)

कूटनीतिक इतिहास का प्रभुत्व

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इतिहास, कानून, राजनीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदि के विद्वान ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अलग-अलग पहलुओं पर विचार करते थे। मुख्य रूप से इतिहासकार ही इसका अध्ययन राजनयिक इतिहास तथा अन्य देशों के साथ संबंधों के इतिहास के रूप में करते थे। इसके अंतर्गत कूटनीतिज्ञों व विदेश मन्त्रियों द्वारा किए गए कार्यों का लेखा जोखा होता था। अतः इसे कूटनीतिक इतिहास की संज्ञा भी दी जाती है। ई.एच.कार के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध का संबंध केवल सैनिकों तक समझा जाता था तथा इसके समकक्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संबंध राजनयिकों तक। इसके अतिरिक्त, प्रजातांत्रिक देशों में भी परम्परागत रूप से विदेश नीति को दलगत राजनीति से अलग रखा जाता था तथा चुने हुए अंग भी अपने आपको विदेशी मन्त्रालय पर अंकुश रखने में असमर्थ महसूस करते थे। 1919 से पूर्व इस विषय के प्रति उदासीनता के कई प्रमुख कारण थे — प्रथम, इस समय तक यही समझा जाता था कि युद्ध व राज्यों में गठबंधन उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे गरीबी व

बेरोजगारी। अतः युद्ध, विदेश नीति एवं राज्यों के मध्य परस्पर संबंधों को रोक पाना मानवीय सामर्थ्य के वश से बाहर माना जाता था। द्वितीय, प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध इतने भयंकर नहीं होते थे। तृतीय, संचार साधनों के अभाव में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कुछ गिने चुने राज्यों तक ही सीमित थी।

इस प्रकार इस युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की सबसे बड़ी कमी सामान्य हितों का विकास रहा। इस काल में केवल राजनयिक इतिहास का वर्णनात्मक अध्ययन मात्रा ही हुआ। परिणामस्वरूप, इससे न तो वर्तमान तथा न ही भावी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में कोई मदद मिली। इस युग की मात्रा उपलब्धि 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के पीठ की स्थापना रही।

सामयिक घटनाओं/समस्याओं का अध्ययन

दो विश्व युद्धों के बीच के काल में दो समानान्तर धाराओं का विकास हुआ। जिनमें से प्रथम के अंतर्गत पूर्व ऐतिहासिकता के प्रति प्रभुत्व को छोड़कर सामयिक घटनाओं/समस्याओं के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा। इसके साथ साथ अब ऐतिहासिक राजनीतिक अध्ययन को वर्तमान राजनीतिक सन्दर्भों के साथ जोड़ कर देखने का प्रयास भी किया गया। ऐतिहासिक प्रभाव के कम होने के बाद भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु एक समग्र दृष्टिकोण का अभाव अभी भी बना रहा। इस काल में वर्तमान के अध्ययन पर तो बहुत बल दिया गया, लेकिन वर्तमान एवं अतीत के पारस्परिक संबंध के महत्व को अभी भी पहचाना नहीं गया। इसके अतिरिक्त, न ही युद्धोत्तर राजनीतिक समस्याओं को अतीत की तुलनीय समस्याओं के साथ रखकर देखने का प्रयास ही किया गया।

शायद इसीलिए इस युग में भी दो मूलभूत कमियाँ स्पष्ट रूप से उजागर रहीं। प्रथम, पहले चरण की ही भांति इस काल में भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सार्वभौमिक सिद्धान्त का विकास नहीं हो सका। द्वितीय, आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन अधिक सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत नहीं बन पाया। इस प्रकार इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में बल देने की स्थिति में बदलाव के अतिरिक्त बहुत ज्यादा परिवर्तन देखने को नहीं मिला तथा न ही इस विषय के स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र अनुशासन बनने की पुष्टि हुई।

राजनैतिक सुधारवाद का युग

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का तृतीय चरण भी द्वितीय चरण के

समानान्तर दो विश्व युद्धों के बीच का काल रहा। इसे सुधारवाद का युग इसलिए कहा जाता है कि इसमें राज्यों द्वारा राष्ट्र संघ की स्थापना के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सुधार की कल्पना की गई। इस युग में मुख्य रूप से संस्थागत विकास किया गया। इस काल के विद्वानों, राजनयिकों, राजनेताओं व चिन्तकों का मानना था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का विकास हो जाता है तो विश्व समुदाय के सम्मुख उपस्थित युद्ध व शांति की समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकेगा। इस उद्देश्य हेतु कुछ कानूनी व नैतिक उपागमों की संरचनाएं की गईं जिनके निम्न मुख्य आधार थे।

- (क) शान्ति स्थापित करना सभी राष्ट्रों का सांझा हित है, अतः राज्यों को हथियारों का प्रयोग त्याग देना चाहिए।
- (ख) अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कानून व व्यवस्था के माध्यम से झगड़ों को निपटाया जा सकता है।
- (ग) राष्ट्र की तरह, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी, कानून के माध्यम से अनुचित शक्ति प्रयोग को प्रतिबंधित किया जा सकता है।
- (घ) राज्यों की सीमा परिवर्तन का कार्य भी कानून या बातचीत द्वारा हल किया जा सकता है।

इन्हीं आदर्शिक एवं नैतिक मूल्यों पर बल देते हुए अंतर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्र संघ) की परिकल्पना की गई। इसकी स्थापना के उपरान्त यह माना गया कि अब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राज्यों के मध्य शान्ति बनाने का संघर्ष समाप्त हो गया। नई व्यवस्था के अंतर्गत शक्ति संतुलन का कोई स्थान नहीं होगा। अब राज्य अपने विवादों का निपटारा संघ के माध्यम से करेंगे। अतः इस युग में न केवल युद्ध व शान्ति की समस्याओं का विवेचन किया, अपितु इसके दूरगामी सुधारों के बारे में भी सोचा गया। अतः अध्ययनकर्ताओं के मुख्य बिन्दु भी कानूनी समस्याओं व संगठनों के विकास के साथ-साथ इनके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदलने वाला रहा। अन्ततः इस काल में भावात्मक, कल्पनाशील व नैतिक सुधारवाद पर अधिक बल दिया गया है।

परन्तु विश्वयुद्धों के बीच इन उपागमों की सार्थकता पर हमेशा प्रश्न चिह्न लगा रहा। राष्ट्र संघ की प्रथम एक दशक (1919-1929) की गतिविधियों से जहां आशा की किरण दिखाई दी, वहीं दूसरे दशक (1929-1939) की यथार्थवादी स्थिति ने इस धारणा को बिल्कुल समाप्त कर दिया। बड़ी शक्तियों के मध्य

असहयोग व गुटबन्दियों ने शान्ति की स्थापना की बजाय शक्ति संघर्ष व्यवस्था को जन्म दिया। जापान ने मंचूरिया पर हमले करके जहां शांति को भंग कर दिया वहीं इटली, जर्मनी व रूस ने भी विवादास्पद स्थितियों में न केवल राष्ट्र संघ की सदस्यता ही छोड़ी, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने की प्रक्रिया को और तीव्र बना दिया।

इस प्रकार शान्ति, नैतिकता, व कानून से विश्व व्यवस्था नहीं चल सकी, तो ई.एच.कार, शुभा, किंवंसी राईट आदि लेखकों के कारण यथार्थवादी दृष्टिकोण को वैकल्पिक उपागम के रूप में बल मिला।

सैद्धान्तिकरण के प्रति आग्रह

इस चरण में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मूलभूत परिवर्तनों से न केवल इसकी विषयवस्तु व्यापक हुई बल्कि इसमें बहुत जटिलताएँ भी पैदा हो गई। शीतयुगीन काल में राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन तथा नये राज्यों के उदय ने सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को ही बदल दिया। परिणामस्वरूप नये उपागमों, आयामों, संस्थाओं व प्रवृत्तियों का सर्जन हुआ जिनके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन सुनिश्चित हो गया।

पूर्व चरणों की आदर्शिक, संस्थागत, नैतिक, कानूनी एवं सुधारवादी धाराओं की असफलताओं ने नये उपागमों के विकास की ओर अग्रसर किया। यह नया उपागम था—यथार्थवाद। वैसे तो ई.एच.कार, श्वार्जनबर्जर, किंवंसी राईट, शुभा आदि लेखकों ने इस दृष्टिकोण को विकसित किया, परन्तु हेंस जे. मारगेन्थाऊ ने इसे एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य हमेशा अपने हितों की पूर्ति हेतु संघर्षरत रहते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने हेतु इस शक्ति संघर्ष के विभिन्न आयामों को समझना अति आवश्यक है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सुनिश्चित व सुस्पष्ट विकास के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) की भी उत्पत्ति हुई। अब इस संगठन का स्वरूप मात्रा आदर्शवादी व सुधारवादी न होकर, महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन के रूप में उभर कर आया।

इसके अंतर्गत मानवजाति को युद्ध की विभीषिका से बचाने के साथ-साथ राज्यों के मध्य संघर्ष के कौन-कौन से कारण हैं? विश्वशांति हेतु खतरे के कौन-कौन से कारक हैं? शांति की स्थापना कैसे हो सकती है? शस्त्रों की होड़ को कैसे रोका जा सकता है? आदि कई प्रकार के प्रश्नों का समाधान ढूंढने के

प्रयास भी किए गए।

उपरोक्त दो प्रवृत्तियों के साथ-साथ व्यवहारवाद की उत्पत्ति भी इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के माध्यम से “व्यवस्था सिद्धान्त” की उत्पत्ति कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का प्रयास किया गया। इस उपागम के अंतर्गत राज्यों के अध्ययन हेतु तीन प्रमुख कारकों का अध्ययन किया जाना जरूरी माना गया। ये कारक थे—

(क) विभिन्न देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन।

(ख) विदेश नीति संचालन की पद्धतियों का अध्ययन।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं के समाधान के उपायों का अध्ययन।

उपरोक्त प्रवृत्तियों का मुख्य बल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धान्तिकरण को बढ़ावा देना रहा है। अतः इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अति महत्वपूर्ण कार्य रहा है। सिद्धान्त निर्माण की इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप अनेक आंशिक सिद्धान्तों जैसे— यथार्थवाद, संतुलन का सिद्धान्त, संचार सिद्धान्त, क्रीड़ा सिद्धान्त, सौदेबाजी का सिद्धान्त, शान्ति अनुसन्धान दृष्टिकोण, व्यवस्था सिद्धान्त, विश्व व्यवस्था प्रतिमान आदि का निर्माण हुआ। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के बावजूद इस युग में किसी एक सार्वभौमिक व सामान्य सिद्धान्त का अभाव अभी भी बना रहा। 1990 के दशक में जयन्त बंधोपाध्याय ने अपनी पुस्तक — जनरल थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल रिलेसन्स (1993) — में मार्टिन कापलान के व्यवस्थापरक सिद्धान्त की कमियों को दूर कर एक सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना की कोशिश की है, परन्तु वह भी अभी वाद-प्रतिवाद के दौर में ही हैं। अतः सैद्धान्तिकरण के मुख्य दौर के बावजूद शीतयुद्ध कालीन युग अपनी वैचारिक संकीर्णता व अलगाव के कारण किसी एक सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन से वंचित रहा।

वैश्वीकरण व गैर-सैद्धान्तिकरण का युग

शीतयुद्धोत्तर युग में सभी राष्ट्रों द्वारा एक आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत जुड़ना प्रारम्भ कर दिया। इसीलिए अब वैश्वीकरण, उदारीकरण, मुक्त बाजार व्यवस्था आदि का दौर प्रारम्भ हो गया। इस सन्दर्भ में न केवल आर्थिक मुद्दों का ही महत्व बढ़ा, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्व और भी बढ़ गया। आज राष्ट्रीयता एवं

अन्तर्राष्ट्रीयता का विभेद समाप्त हो गया इसके अतिरिक्त, अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय सूची में काफी नवीन विषयों का समावेश हो गया जो राष्ट्रीय न रहकर अब मानवजाति की समस्याओं के रूप में उभर कर आये। वर्तमान विश्व की प्रमुख समस्याओं में आतंकवाद, पर्यावरण, ओजोन परत क्षीण होना, नशीले पदार्थों एवं मादक द्रव्यों की तस्करी, मानवाधिकारों का हनन आदि प्रमुख मुद्दे उभर कर सामने आये जिनका राष्ट्रीय स्तर या क्षेत्रीय स्तर की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हल निकालना अनिवार्य बन गया है।

सैद्धान्तिक स्तर पर भी 1945 से 1991 तक के सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना के प्रयास को धक्का लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की इस सन्दर्भ में अब प्राथमिकताएं बदल गई। उत्तर-आधुनिकतावाद में (पोस्ट मोडर्निज्म) अब सार्वभौमिक सिद्धान्तों की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लग रहे हैं। ऐतिहासिक सन्दर्भ एवं प्राचीन परिवेश के प्रभाव को भी नकारा जा रहा है। अब स्वतन्त्र मुद्दे अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। वृहत् सिद्धान्त गौण हो गए हैं। नए सन्दर्भ में आंशिक शोध अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। उदाहरणस्वरूप नारीवाद, मानवाधिकार, पर्यावरण आदि विषयों पर अधिक बल देने के साथ-साथ चिन्तन भी प्रारम्भ हो गया है। अतः शीतयुद्धोत्तर युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप, विषय सूची एवं विषय क्षेत्र पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गए हैं। अब सामान्य सैद्धान्तिक स्थापना पर भी अधिक बल नहीं दिया जा रहा है। इसीलिए इस बदले हुए परिवेश में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु स्वायत्तता की ओर अग्रसर प्रतीत हो रही है, और विषय की स्वायत्तता हेतु आशावादी संकेत दिखाई देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंध सिद्धांत

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत में सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन किया जाता है। यह एक ऐसा वैचारिक ढांचा प्रदान करने का प्रयास करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा सके। ओले होल्स्ती कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत रंगीन धूप के चश्में की एक जोड़ी के रूप में कार्य करते हैं, जो उसे पहनने वाले व्यक्ति को केवल मुख्य सिद्धांत के लिए प्रासंगिक घटनाओं को देखने की अनुमति देता है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में यथार्थवाद, उदारवाद और रचनावाद, तीन सबसे लोकप्रिय सिद्धांत हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत मुख्यतः दो सिद्धांतों में विभाजित किये जा सकते हैं, "प्रत्यक्षवादी/बुद्धिवादी" जो मुख्यतः राज्य स्तर के विश्लेषण पर ध्यान

केंद्रित करते हैं। और उत्तर-प्रत्यक्षवादी / चिंतनशील जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत में उत्तर औपनिवेशिक युग में सुरक्षा, वर्ग, लिंग आदि के विस्तारित अर्थ को शामिल करवाना चाहते हैं। आईआर (IR) सिद्धांतों में 443333 विचारों के अक्सर कई विरोधाभासी तरीके मौजूद हैं, जैसे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों (IR) में रचनावाद, संस्थावाद, मार्क्सवाद, नव-ग्रामस्कियनवाद (neo-Gramscianism), और अन्य। हालांकि, प्रत्यक्षवादी सिद्धांतों के स्कूलों में सबसे अधिक प्रचलित यथार्थवाद और उदारवाद हैं। यद्यपि, रचनावाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तेजी से मुख्यधारा होता जा रहा है।

परिचय

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को सिद्धांत के रूप में मान्यता ई. एच. कार (E. H. Carr) की पुस्तक "बीस साल के संकट" ("The Twenty Years' Crisis") (1939) और हंस मोर्गेन्थाऊ (Hans Morgenthau) की पुस्तक राष्ट्रों के मध्य राजनीति (1948) ("Politics Among Nations") से मिली। ऐसा माना जाता है की एक विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संबंध प्रथम विश्व युद्ध के बाद वेल्स विश्वविद्यालय, ऐबेरिस्टविद (University of Wales, Aberystwyth) में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के एक चेयर की स्थापना के साथ उभरा है। प्रारंभिक युद्ध के वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का विषय शक्ति का संतुलन (Balance of Power) पर केंद्रित था, धीरे-धीरे यह सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) की एक प्रणाली के साथ प्रतिस्थापित किया जाने लगा। इन विचारकों को बाद में "आदर्शवादी" के रूप में पहचाना गया। आदर्शवादी स्कूल के अग्रणी आलोचक "यथार्थवादी" विश्लेषक ई. एच. कार थे।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांत में व्याख्यात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोणों में भेद तब नजर आता है जब हम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों को वर्गीकृत करते हैं। व्याख्यात्मक सिद्धांत वे हैं जो सिद्धांत निर्माण के लिए बाहरी दुनिया को सैद्धांतिक दृष्टि से देखते हैं। रचनात्मक सिद्धांत वे हैं जो मानते हैं कि सिद्धांत वास्तव में दुनिया का निर्माण करने में मदद करते हैं।

यथार्थवाद

यथार्थवाद या राजनीतिक यथार्थवाद, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के शिक्षण की शुरुआत के बाद से ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रमुख सिद्धांत रहा है। यह सिद्धांत उन प्राचीन परम्परागत दृष्टिकोणों पर भरोसा करने का दावा करता है, जिसमें थ्यूसीडाइड, मैकियावेली और होब्स जैसे लेखक शामिल हैं। प्रारंभिक यथार्थवाद को

आदर्शवादी सोच के खिलाफ एक प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। यथार्थवादियों ने द्वितीय विश्व युद्ध के प्रकोप को आदर्शवादी सोच की कमी के एक सबूत के रूप में देखा था। आधुनिक यथार्थवादी विचारों में विभिन्न किस्में हैं, हालांकि, इस सिद्धांत के मुख्य सिद्धांतों के रूप में राज्य नियंत्रणवाद, अस्तित्व और स्वयं सहायता को माना जाता है।

राज्य नियंत्रणवाद/सांख्यिकवाद (Statism) यथार्थवादियों का मानना है कि राष्ट्र राज्य (Nation States) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मुख्य अभिनेता होते हैं, इस प्रकार यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक राज्य केंद्रित (State Centric) सिद्धांत है। यह विचार उदार (Liberal) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों के साथ विरोधाभास प्रकट करता है, जो गैर राज्य अभिनेताओं (Non-state Actors) और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका को भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों में समायोजित करता है।

जीवन रक्षा/अस्तित्व (Survival) यथार्थवादियों का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली अराजकता के द्वारा संचालित है, जिसका अर्थ है कि वहाँ कोई केंद्रीय सत्ता नहीं है, जो राष्ट्र राज्यों में सामंजस्य रख सके। इसलिए, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति स्वार्थी (Self-interested) राज्यों के बीच सत्ता के लिए एक संघर्ष है।

स्वयं सहायता (Self-help) यथार्थवादियों का मानना है कि राज्य के अस्तित्व की गारंटी के लिए अन्य राज्यों की मदद पर भरोसा नहीं किया जा सकता है, इसलिए राज्य को अपनी सुरक्षा स्वयं के बल पर ही करनी चाहिए।

यथार्थवाद में कई महत्वपूर्ण मान्यताएं हैं। यथार्थवादी मानते हैं कि राष्ट्र-राज्य इस अराजक अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में ऐकिक (Unitary) व भौगोलिक आधारित अभिनेता (Actors) हैं, जहाँ कोई भी वास्तविक आधिकारिक विश्व सरकार के रूप में मौजूद नहीं है जो इन राष्ट्र-राज्यों के बीच अन्तः क्रिया या सहभागिताओं को विनियमित (Regulate) करने में सक्षम हो। दूसरे, यह अंतरसरकारी संगठनों (IGOs), अंतर्राष्ट्रीय संगठनों (IOs), गैर सरकारी संगठनों (NGOs), या बहुराष्ट्रीय कंपनियों (MNCs) के बजाय संप्रभु राज्यों (Sovereign states) को ही अंतर्राष्ट्रीय मामलों में प्राथमिक अभिनेता मानते हैं। इस प्रकार, राज्य ही, सर्वोच्च व्यवस्था के रूप में, एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा में रहते हैं। ऐसे में, एक राज्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने, अपनी खुद की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए और इन प्राथमिक उद्देश्यों के साथ अपने स्वयं के स्वार्थ की खोज में एक तर्कसंगत स्वायत्त अभिनेता के रूप में कार्य करता है और इस तरह अपनी संप्रभुता और अस्तित्व की रक्षा करने का प्रयास करता है। यथार्थवादी मानते हैं कि राष्ट्र राज्य अपने

हितों की खोज में, अपने लिए संसाधनों को एकत्र करने का प्रयास है और ये राज्यों के बीच के संबंधों को सत्ता के अपने संबंधित स्तरों द्वारा निर्धारित करते हैं। शक्ति का यह स्तर राज्य के सैन्य, आर्थिक और राजनीतिक क्षमताओं से निर्धारित होता है।

मानव स्वभाव यथार्थवादीयों (Human nature realists) का मानना है, कि राज्य स्वाभाविक रूप से ही आक्रामक होते हैं अतः क्षेत्रीय विस्तार को शक्तियों का विरोध करके ही असीमाबद्ध किया गया है। जबकि दुसरे आक्रामक रक्षात्मक यथार्थवादीयों (Offensiveèdefensive realists) का मानना है कि राज्य हमेशा अपने अस्तित्व की सुरक्षा और निरंतरता की चिंता से ग्रस्त रहते हैं। रक्षात्मक दृष्टिकोण एक सुरक्षा दुविधा (Security dilemma) की तरफ ले जाता है, क्योंकि जहां एक राष्ट्र खुद की सुरक्षा को बढ़ाने के लिए हथियार बनता है, तो वहीं प्रतिद्वंद्वी भी साथ ही साथ समानांतर लाभ प्राप्त करने की कोशिश करता है। इसलिए यह प्रक्रिया और अधिक अस्थिरता की ओर ले जा सकती है यहाँ सुरक्षा को केवल शून्य राशि खेल / शून्य-संचय खेल (जीरो सम गेम्स) के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ केवल सापेक्ष लाभ मिल सकता है।

नव यथार्थवाद

नव यथार्थवाद या संरचनात्मक यथार्थवाद, केनेथ वाल्ट्ज द्वारा अपनी पुस्तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत (The Theory of International Politics) में इसे यथार्थवाद के ही उन्नत विकास के रूप में प्रस्तुत किया था। जोसेफ ग्रीको (Joseph Grieco) ने नवयथार्थवादी विचारों को और अधिक परंपरागत यथार्थवादियों के साथ जोड़ा है। सिद्धांत का यह प्रकार कभी कभी "आधुनिक यथार्थवाद" भी कहा जाता है। वाल्ट्ज के नव यथार्थवाद का कहना है कि संरचना के प्रभाव को राज्य के व्यवहार को समझाने के रूप में लिया जाना चाहिए। संरचना को दो रूपों में परिभाषित किया गया है, प्रथम-अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली का व्यवस्था सिद्धांत, जो की अराजकता (Anarchy) लिए हुए है और दूसरा- इकाइयों में क्षमताओं का वितरण। वाल्ट्ज भी पारंपरिक यथार्थवाद को चुनौति देता है जो की पारंपरिक सैन्य शक्ति पर जोर देता है बजाय राज्य की संयुक्त क्षमताओं के, जो की प्रदर्शनात्मक शक्ति के रूप में होती हैं।

उदारवाद

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के उदारवादी सिद्धांतों का अग्रदूत "आदर्शवाद" था।

आदर्शवाद (कल्पनावाद) जो खुद को यथार्थवादियों की आलोचना के रूप में देखता था। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में, आदर्शवाद (वुडरो विल्सन के साथ इसके जुड़ाव की वजह से इसे "विल्सनवाद" भी बुलाया जाता है, जिसने इसे आदर्श रूप दिया था) एक वैचारिक दृष्टिकोण है जो यह मानता है कि एक राज्य को अपनी विदेश नीति का लक्ष्य निर्धारित करने के लिए इसे (आदर्शवाद को) अपने आंतरिक राजनीतिक दर्शन में अपनाना चाहिए। उदाहरण के लिए, एक आदर्शवादी यह विश्वास कर सकता है कि घर पर गरीबी समाप्त करने के साथ-साथ विदेशों में भी गरीबी से निपटने के लिए साथ मिलकर काम किया जाना चाहिए। विल्सन का आदर्शवाद उदार अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों के लिए एक अग्रदूत के रूप में था, जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद "संस्था निर्माताओं" (Institution builders) के बीच पैदा हुआ था।

उदारवाद यह मानता है कि राज्य की क्षमताओं (State capabilities) के बजाय राज्य की प्राथमिकताएँ (State preferences), राज्य के व्यवहार के लिए मुख्य निर्धारक होती हैं। यथार्थवाद के विपरीत, जहां राज्य एक एकात्मक अभिनेता के रूप में देखा जाता है, वहीं उदारवाद राज्य के कार्यों में बहुलता के लिए अनुमति देता है। इस प्रकार, प्राथमिकताएँ अलग अलग राज्यों में उनकी संस्कृति, आर्थिक प्रणाली या सरकार के प्रकार के रूप में अलग अलग कारकों पर निर्भर करेंगी। उदारवादी यह भी मानते हैं कि राज्यों के बीच संपर्क (Interactions) केवल राजनीतिक अथवा सुरक्षा ("उच्च राजनीति") के मामलों तक ही सीमित नहीं है, जबकि इनमें आर्थिक अथवा सांस्कृतिक ("निम्न राजनीति") मामलों के लिए भी आपस में संपर्क होता रहता है, चाहे वो वाणिज्यिक कंपनियों, संगठनों या व्यक्तियों के माध्यम से ही हो। इस प्रकार, एक अराजक अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के बावजूद, सहयोग और सत्ता के व्यापक विचार के लिए बहुत से अवसर विद्यमान हैं, जैसे कि सांस्कृतिक पूंजी। (उदाहरण के लिए, फिल्मों के प्रभाव ने देश की संस्कृति की लोकप्रियता और इसके दुनिया भर में निर्यात के लिए एक बाजार बनाने के लिए अग्रणी भूमिका अदा की है।) एक अन्य धारणा यह भी है कि पूर्ण अथवा सापेक्ष लाभ केवल सहयोग और पारस्परिक – निर्भरता के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है और इस तरह से शांति को हासिल किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक शांति सिद्धांत का तर्क है कि उदार लोकतांत्रिक राज्यों के बीच लगभग कभी भी युद्ध नहीं हुआ है और आपस में संघर्ष अथवा विवाद भी बहुत कम ही हुए हैं। यह सिद्धांत विशेष रूप से यथार्थवादी सिद्धांतों के विरोधाभास के रूप में देखा जाता है और यह अनुभवजन्य दावा अब राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में एक

महान विवाद बन गया है। लोकतांत्रिक शांति के लिए कई स्पष्टीकरण आये हैं। किताब नेवर एट वॉर (Never at War) में यह भी तर्क दिया गया है, कि सामान्य रूप से लोकतांत्रिक राज्यों ने गैर लोकतांत्रिक राज्यों से कूटनीति के मामले में बहुत अलग ढंग से आचरण किया है। (10) यथार्थवादी उदारवादियों के इस सिद्धांत में असहमति प्रकट करते हैं, कि उन्होंने अक्सर शांति के लिए संरचनात्मक कारणों का हवाला देते हुए, राज्य सरकार का विरोध किया है। सेबस्टियन रोसतो (Sebastian Rosato), जो कि लोकतांत्रिक शांति सिद्धांत का एक आलोचक है, ने लोकतांत्रिक शांति को चुनौती देने के लिए शीत युद्ध के दौरान लैटिन अमेरिका में वामपंथी झुकाव वाले लोकतांत्रिक देशों के प्रति अमेरिका के व्यवहार को इंगित किया है। एक तर्क यह भी है कि व्यापार भागीदारों के बीच आर्थिक निर्भरता युद्ध होने की संभावना को कम करती है। इसके विपरीत यथार्थवादी दावा करते हैं कि आर्थिक निर्भरता संघर्ष की संभावना कम को करने की बजाय बढ़ावा देती है।

नव उदारवाद

नव उदारवाद, उदार संस्थावाद या नव – उदारवादी संस्थावाद उदार सोच के लिए एक प्रगति है। यह तर्क देता है कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ राष्ट्र-राज्यों को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सफलतापूर्वक सहयोग करने के लिए अनुमति दे सकती हैं।

उत्तर – उदारवाद

उत्तर- उदारवादी सिद्धांत का तर्क है कि आधुनिक और भूमंडलीकृत दुनिया के भीतर राज्य अपनी सुरक्षा और संप्रभु हितों को सुनिश्चित करने के लिए वास्तव में सहयोग के लिए कदम बढ़ा रहे हैं। यह सिद्धांत विशेष रूप से संप्रभुता और स्वायत्तता की अवधारणाओं की फिर से व्याख्या करने में लगा है। स्वायत्तता आजादी की अवधारणा, आत्मनिर्णय, एक पूर्ण जिम्मेदार एजेंसी और कर्तव्यपरायणता की धारणा से दूर स्थानांतरित होने से एक समस्याग्रस्त अवधारणा बन जाती है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वायत्तता सुशासन के लिए क्षमता के रूप में होती है। इसी प्रकार से, संप्रभुता भी कर्तव्य के लिए सही से बदलाव का अनुभव कराती है।

रचनावाद

रचनावाद या सामाजिक रचनावाद नव उदारवादी और नव यथार्थवादी

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों के प्रभुत्व के सामने एक चुनौती के रूप में वर्णित किया जाता है। माइकल बार्नेट वर्णन करते हैं की रचनावादी अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों को इस रूप में समझा जाता है की विचार कैसे अन्तर्राष्ट्रीय संरचना को परिभाषित करते हैं, यह संरचना कैसे राज्यों के हितों (Interests) और पहचान को परिभाषित करती है और राज्य (States) और गैर राज्य अभिनेता (Non-states actors) इस संरचना को कैसे पुनः पेश (Reproduce) करते हैं। रचनावाद के प्रमुख सिद्धांत यह मानते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रेरक विचारों, सामूहिक मूल्यों, संस्कृति और सामाजिक पहचान द्वारा निर्मित होती है।" रचनावाद का तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता (International reality) सामाजिक रूप से ज्ञानात्मक बौद्धिक संरचनाओं (Cognitive structures) (जो भौतिक दुनिया Material world को अर्थ देती हैं।) के द्वारा निर्मित होती है। यह सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों की वैज्ञानिक विधि (Scientific method) और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के उत्पादन (The production of international power) में सिद्धांतों की भूमिका को ध्यान में रखकर एक बहस के रूप में उभरा। एमेन्युल एडलर ने कहा है कि रचनावाद तर्कवादी और व्याख्यात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों में एक बीच का रास्ता है।

मार्क्सवाद और विवेचनात्मक सिद्धांत

मार्क्सवाद और नव-मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों के संरचनावादी मानदंड हैं, जो यथार्थवादी और उदारवादीयों के राज्य संघर्ष या सहयोग के दृश्य को अस्वीकार करते हैं और इनके बजाय ये आर्थिक और भौतिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

नारीवाद

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में नारीवादी दृष्टिकोण (Feminist approach) 1990 के दशक में लोकप्रिय बना। यह दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि महिलाओं के अनुभवों को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन से लगातार बाहर रखा जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में नारीवादियों का तर्क है कि लिंग संबंध (Gender relations) अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अभिन्न अंग हैं। अतः राजनयिक महिलाओं (Diplomatic wives) और वैवाहिक संबंधों (Marital relationship) पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जो सेक्स के अवैध व्यापार (Sex trafficking) को सुविधाजनक बनाने में भूमिका निभाते हैं।

ग्रीन सिद्धांत

हरित सिद्धांत (Green theory) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों का एक उप क्षेत्र है जो अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सहयोग से संबंधित है।

वैकल्पिक दृष्टिकोण

अधिक जानकारी के लिए अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों में बुनियादवाद (Foundationalism), विरोधी बुनियादवाद, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों में प्रत्यक्षवाद, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धांतों में उत्तर-प्रत्यक्षवाद, उत्तर-यथार्थवाद और पूर्ववादी

कार्यात्मकवाद

प्रकार्यवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक सिद्धांत है जो कि यूरोपीय एकीकरण के अनुभव से उभर कर सामने आया। जहाँ यथार्थवादी स्वहित को एक प्रेरित कारक के रूप में देखते हैं, वही प्रकार्यवादी (Functionalists) राज्यों द्वारा साझा हितों पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

राज्य कार्टेल (उत्पादक संघ) सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राज्य कार्टेल सिद्धांत अर्थशास्त्र के प्राचीन संस्थागत सिद्धांत (निजी या उद्यम उत्पादक संघ) सिद्धांत से आया है। इस सिद्धांत की जर्मन पृष्ठभूमि है, क्योंकि जर्मनी पहले उच्चतम विकसित आर्थिक उत्पादक संघ और क्लासिकल (उत्कृष्ट) कार्टेल सिद्धांत की मातृभूमि थी। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अन्य सिद्धांतों के बीच, राज्य कार्टेल सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रकार्यवाद के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। शुरुआत के थोड़े बाद, राज्य कार्टेल सिद्धांत ने अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के सिद्धांत पर अपना ध्यान केंद्रित किया है।

उत्तर-संरचनावाद

उत्तर-संरचनावाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में दूसरे अधिकांश दृष्टिकोणों से अलग है, क्योंकि यह खुद को एक ऐसे सिद्धांत, स्कूल या प्रतिमान के रूप में नहीं देखता है जो की केवल किसी एक ही विषय के बारे में लेखा-जोखा रखता हो। इसके बजाय, उत्तर- संरचनावादी दृष्टिकोण एक लोकाचार, तरीका और दृष्टिकोण है जो विशेष ढंग से आलोचनाओं की जाँच एवं खोज करता है। उत्तर-

संरचनावाद आलोचना को एक स्वाभाविक सकारात्मक तरीके से देखते हैं जो कि विकल्पों की खोज के लिए ऐसी स्थितियां बनता है।

उत्तर-उपनिवेशवाद

उत्तर औपनिवेशिकवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के शिक्षण में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के (आईआर) के लिए एक आलोचनात्मक सिद्धांत एवं दृष्टिकोण रखता है और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के शिक्षण में मुख्यधारा का क्षेत्र नहीं माना जाता है। उत्तर उपनिवेशवाद विश्व राजनीति में औपनिवेशिक स्थिरता की शक्ति और नस्लवाद के अस्तित्व को जारी रखने पर बल देता है।

2

राष्ट्रीय शक्ति

अंतरराष्ट्रीय राजनीति को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्व 'शक्ति' हैं। यदि यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति की राजनीति हैं। शक्ति से यहाँ तात्पर्य 'राष्ट्रीय-शक्ति' से हैं। राष्ट्रीय-शक्ति ही हैं जिसे प्रत्येक राज्य अर्जित कर अपनी समस्याओं को इसके बल पर हल करने का प्रयत्न करता रहता हैं।

राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ

वास्तव में 'राष्ट्रीय शक्ति' आधुनिक राज्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग हैं। किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा तथा राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के लिये यह शक्ति बहुत आवश्यक हैं।

राष्ट्रीय शक्ति को कई विद्वानों ने विविध प्रकार से परिभाषित किया हैं। किसी राष्ट्र की क्षमता जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों को प्रभावित कर सके, राष्ट्रीय शक्ति कहलाती हैं। राष्ट्रीय शक्ति के दो मुख्य हैं—

1. आत्म-रक्षा,
2. अपने प्रभाव की वृद्धि।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को शक्ति के रूप में ही समझा जा सकता हैं। चाहे राष्ट्रीय राजनीति हो या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, शक्ति दोनों में ही निहित होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संघर्ष शक्ति से ही सुलझाये जा सकते हैं और संसार के सब नीति-नियम शक्ति द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

राज्य का आधार शक्ति हैं। शक्ति के बल पर ही वह टिका हुआ हैं और विकसित होता हैं तथा इसी शक्ति के बल पर उसका मूल्यांकन होता हैं।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार, "राष्ट्रीय शक्ति कहने को तो समग्र जनता की सामूहिक शक्ति हैं, पर वास्तव में वह उन अधिकारियों के हाथ में रहती हैं, जो देश का शासन चलाते हैं। राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने का अर्थ नागरिकों की व्यक्तिगत शक्ति बढ़ाना नहीं, अपितु सत्ताधारियों को शक्ति में वृद्धि से हैं।"

राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा

विलियम एबेन्सटीन के शब्दों में, "राष्ट्रीय शक्ति जनसंख्या, कच्चा माल तथा मात्रात्मक तत्वों के योग से कहीं अधिक हैं। राष्ट्र की संयुक्त क्षमता उसके नागरिकों का देश-प्रेम, उसकी संस्थाओं का लचीलापन, उसका प्रावधिक ज्ञान, उसकी कष्ट सहने की क्षमता कुछ ऐसे गुणात्मक तत्व हैं जो किसी राष्ट्र की संपूर्ण शक्ति को निर्धारित करते हैं।"

स्टोसिंजर के अनुसार, "अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति एक राष्ट्र की अपने मूर्त और अमूर्त संसाधनों का इस तरह से उपयोग करने की क्षमता है, जिससे अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित किया जा सके।"

पैडेलफोर्ड और अब्राहम लिंकन के अनुसार, "राष्ट्रीय शक्ति एक राज्य की उस शक्ति और सामर्थ्य का योग है, जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपयोग में लाता हैं।"

होलस्टी ने, राष्ट्रीय शक्ति को राज्य की उस सामान्य क्षमता के रूप में परिभाषित किया है जिसके अंतर्गत वह अन्य राज्य के आचरण को नियंत्रित करता है।"

ऑर्गेन्स्की के अनुसार, "शक्ति अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है। जब तक कोई राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना भी बड़ा या संपन्न क्यों न हो, शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता है।"

हार्टमैन के अनुसार, "राष्ट्रीय शक्ति एक राष्ट्र के राष्ट्रीय लक्ष्यों के पूर्ति की क्षमता को दर्शाता है। यह हमें बताता है की कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों सुरक्षा के लिए कितना शक्तिशाली या कमजोर है।"

मार्गेन्थाऊ के अनुसार, "राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्र की वह शक्ति हैं, जिसके आधार

पर कोई व्यक्ति दूसरे राष्ट्रों के कार्यों, व्यवहारों और नीतियों पर प्रभाव तथा नियंत्रण रखने की चेष्टा करता है। यह राष्ट्र की वह क्षमता है, जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों से अपनी इच्छा के अनुरूप कोई कार्य करा लेता है।”

हॉब्स कहते हैं कि, “शक्ति वह बल है, जो एक राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र पर डालता है।”

इन परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शक्ति वह क्षमता है जो एक राष्ट्र द्वारा अपने हितों की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध प्रयोग में लायी जाती है। वास्तव में राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्र की वह क्षमता है जिसके आधार पर वह दूसरे राष्ट्र के व्यवहार को प्रभावित और नियन्त्रित करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य का संपूर्ण प्रभाव है। इस राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण अनेक तत्वों से होता है जो एक-दूसरे से संबंधित होते हैं।

राष्ट्रीय शक्ति की विशेषताएं

राष्ट्रीय शक्ति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

1. अस्थायी स्वरूप

राष्ट्रीय शक्ति के स्वरूप में स्थायित्व का अभाव पाया जाता है इसका कारण है कि समयानुसार इसके तत्वों में परिवर्तन होता रहता है। भारत की राष्ट्रीय शक्ति के स्वरूप में भी हमें महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। पूर्वकाल में सैन्य दृष्टि से पिछड़े तथा सुरक्षा के प्रति आशंकित भारत की तुलना में वर्तमान भारत आज अपनी सैन्य क्षमता तथा सुरक्षा के प्रति आत्मविश्वास से परिपूर्ण है।

2. तुलनात्मक स्वरूप

राष्ट्रीय शक्ति के स्वरूप एवं स्तर को तुलनात्मक पद्धति से ही आँका जाता है। एक राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व की दूसरे राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के उसी तत्व से तुलना करते हैं। शक्तिशाली राष्ट्रों की शक्ति और क्षमता से तुलना करने पर ही किसी राष्ट्र को निर्बल कहा सकता है। इस तरह से निर्बल राष्ट्रों की शक्ति को ध्यान में रखकर ही किसी राष्ट्र को शक्तिशाली कहा जाता है।

3. सापेक्षता

जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ अपने शक्ति-संबंधों में परिवर्तन करता है तो उन राष्ट्रों के अन्य संबंध भी स्वतः ही परिवर्तित हो जाते हैं। ऑर्गेन्स्की के

शब्दों में," चाहे दो राष्ट्र मित्र हों अथवा शत्रु केवल सुयोग्य साथी हों या मिलकर लड़ते हों, मिलकर व्यापार करते हों या उनके केवल कुछ सांस्कृतिक हित एक जैसे हों, प्रत्येक राष्ट्र यह ध्यान रखता है कि दूसरा क्या कह रहा है तथा जिस क्षण राष्ट्र को ध्यान आता है उसी क्षण उसके पास दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति आ जाती है।"

उदाहरणार्थ, भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत और ब्रिटेन के संबंधों में स्वतः ही सापेक्ष परिवर्तन आ गया।

4. शक्ति की दृष्टि से दो राष्ट्र समान नहीं होते

जिस प्रकार दो व्यक्ति शक्ति की दृष्टि से पूर्ण रूप से समान नहीं हो सकते उसी प्रकार दो राष्ट्र शक्ति की दृष्टि से एक समान नहीं हो सकते। किसी भी देश की तुलना दूसरे देश से करने पर पूर्ण समानता नहीं पायी जा सकती है। एक देश दूसरे देश से या तो निर्बल होगा या सबल। राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से न्यूनाधिक अंतर पाया जाना स्वाभाविक है।

5. सभी तत्वों का समान महत्व

राष्ट्रीय शक्ति के अनेक तत्व होते हैं। इन सभी तत्वों का महत्व समान होता है। यदि राष्ट्रीय शक्ति के किसी एक तत्व को अधिक और दूसरों को कम महत्व दिया जायेगा तो देश की विदेश नीति असफल रहेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रायः भूलोग-राजनीति, राष्ट्रवाद और सैनिकवाद पर अधिक बल दिया जाता है जो राष्ट्रीय शक्ति के प्रतिनिधि न होकर केवल एक तत्व मात्र हैं।

6. राष्ट्रीय शक्ति का सही मूल्यांकन संभव नहीं

किसी भी राष्ट्र की शक्ति का सही मूल्यांकन संभव नहीं है क्योंकि किसी भी देश की शक्ति का सही आंकलन नहीं किया जा सकता। प्रायः यह देखा जाता है कि लोकतांत्रिक देश सामान्यतया दूसरे देशों की शक्ति को और सर्वाधिकारवादी देश दूसरे देश की शक्ति को कम आँकते हैं। अपनी शक्ति का सही मूल्यांकन अवश्य ही किसी भी राष्ट्र के लिए शक्ति का एक साधन सिद्ध होता है, जबकि गलत मूल्यांकन उसके लिए हमेशा विफलता का कारण सिद्ध होता है।

राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारक तत्व

किसी भी राष्ट्र या देश की राष्ट्रीय शक्ति कई तत्वों पर निर्भर करती है,

जिन्हें राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारक तत्व या अवयव भी कहा जाता है। कोई भी एक तत्व राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारण नहीं करता है, बल्कि कई कारकों से मिलकर राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण होता है। कुछ तत्व निरंतर परिवर्तनशील होते हैं जबकि कुछ तत्व अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के कुछ तत्व हैं जिनका मापन संभव है, जबकि कुछ का मापन संभव नहीं है। उनका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से वर्गीकृत किया है, जो निम्नानुसार हैं—

विलियम एब्रिन्सटीन ने राष्ट्रीय शक्ति को जनसंख्या, कच्चे माल व अन्य साधनों के योग से भिन्न माना है। एक राष्ट्र की शक्ति केवल मात्रात्मक न होकर गुणात्मक होती है।”

मार्गेन्थाऊ, पहला, सापेक्षतया स्थायी तत्व दूसरा, अस्थायी तत्व अर्थात् निरंतर परिवर्तित होने वाले तत्त्व।

पामर तथा पर्किन्स के अनुसार, “प्रथम, गैरमानवीय तत्व— भूगोल, प्राकृतिक साधन। द्वितीय, मानवीय तत्व— इसमें तकनीकी ज्ञान, जनसंख्या, विचारधारा, मनोबल व नेतृत्व को सम्मिलित किया है।”

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) प्राकृतिक

भौगोलिक विशेषताएं, प्राकृतिक साधन व जनसंख्या।

(ब) सामाजिक

आर्थिक विकास, राजनीतिक ढाँचा व राष्ट्रीय मनोबल।

(स) प्रत्ययात्मक

इनमें नेतृत्व, बुद्धि और दूरदर्शिता आते हैं।

इन आधारों पर राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारक तत्वों को गैर-मानवीय व मानवीय तत्वों के रूप में बताया जा सकता है, जो निम्नानुसार हैं—

(अ) राष्ट्रीय शक्ति के गैर-मानवीय तत्व

राष्ट्रीय शक्ति के गैर-मानवीय तत्व निम्नलिखित हैं—

1. भूगोल

भूगोल भी देश की राष्ट्रीय शक्ति में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। कई विद्वान तो भूगोल को ही राष्ट्रीय शक्ति के रूप में देखते हैं। भूगोल के राष्ट्रीय शक्ति से सम्बन्धित चार बातें अतिमहत्वपूर्ण हैं—

(क) क्षेत्रफल या आकार,

(ख) स्थलाकृति,

(ग) स्थिति तथा

(घ) जलवायु।

(क) क्षेत्रफल/आकार

किसी भी देश का बड़ा आकार उसको शक्तिशाली बनाने के महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई भी महाद्वीपीय आकार का देश ही बड़ी शक्ति का रूप धारण कर सकता है न कि कोई छोटे से क्षेत्रफल का देश। लेकिन यदि यह बड़ा आकार रेगिस्तान, घने जंगल, बर्फीला प्रांत है तब यह राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने में सक्षम नहीं होता। परन्तु यदि यह क्षेत्र रहने के योग्य हैं तभी इस आकार का लाभ हो सकता है बड़ा आकार सैन्य व गैर सैन्य दोनों स्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति का विस्तार करता है। सैन्य रूप से बड़े आकार के कई सैनिक लाभ हैं। युद्ध के समय देश की सेना को पीछे भी हटना पड़े तो यह सम्भव है। इसी प्रकार इससे सामरिक गहनता भी प्राप्त होती है। अतः लम्बे युद्धों को चलाने व उनमें अपनी सुरक्षा हेतु बड़ा आकार सहायक सिद्ध होता है।

गैर सैन्य रूप से भी बड़ा आकार कई सन्दर्भों में राष्ट्र की शक्ति बढ़ाता है। इसके अंतर्गत एक बड़ी जनसंख्या के भरण पोषण की व्यवस्था उचित प्रकार से की जा सकती है बड़े क्षेत्रफल वाले राष्ट्रों में प्राकृतिक खनिजों एवं संसाधनों की उपलब्धता की सम्भावनाएं अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त इसमें उद्योग को राज्य के विभिन्न भागों में होने से युद्ध के समय राष्ट्र सम्पूर्ण विनाश से बच सकता है। राष्ट्र का युद्ध में नुकसान होने पर भी कुछ आबादी व उद्योग धन्धे बाद में भी

सुरक्षित बच जाते हैं। अतः एक बड़ा राज्य अवश्य ही शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएँ रखता है।

(ख) स्थलकृति

किसी भी देश की स्थलकृति भी उसे शक्ति बनाने में सहायक और रुकावट बन सकती है। किसी देश की भूमि पहाड़ी व दूरगम्य है या पैदावार वाला भूमिगत मैदान या बर्फ से ढका प्रान्त है यह उसे लाभ/हानि की स्थिति में रख सकता है। द्वितीय स्थलकृति के आधार पर ही सीमाओं का आकलन की स्थिति निर्भर करती है। क्या इस प्रदेश की प्रकृतिक सीमाएँ हैं या अस्पष्ट सीमाएँ हैं इस प्रकार उसकी सुरक्षा सम्बन्धी दबाव निर्भर करता है। तृतीय क्या एक राष्ट्र समुद्र से सीधे लगा हुआ है या वह एक भू-बद्ध राष्ट्र है जो अपने समुद्री मार्ग हेतु किसी अन्य पर निर्भर करता है। इस बात पर भी उसके शक्तिशाली बनने की क्षमता पर सीधा असर पड़ता है। अन्ततः उसका बाह्य विश्व से किस प्रकार के रिश्ते हैं यह भी निर्भर करता है उसकी स्थलकृति पर क्योंकि उससे पड़ोस की ओर जाने के मार्ग सरल हैं, व्यापार सम्भव है या नहीं, आदि इस मुद्दे को काफी हद तक प्रभावित करते हैं।

(ग) स्थिति

राष्ट्र शक्ति के सन्दर्भ में उसकी स्थिति भी महत्वपूर्ण होती है। प्रथम किसी भी राष्ट्र की भूमध्य रेखा से दूरी व नजदीकी के कारण वहाँ के जलवायु, जनसंख्या, मौसम आदि पर सीधा असर पड़ता है। यह सुखद एवं कष्टदायक दोनों की स्थिति पैदा कर सकता है। द्वितीय, किसी राष्ट्र की स्थिति उसकी विदेश नीति को भी निर्धारित करती है। अन्ततः किसी राष्ट्र की स्थिति ही उसके सामरिक महत्व को कम या ज्यादा कर सकती है। अतः किसी भी राष्ट्र की स्थिति यदि उचित होगी तो उसके बड़ी शक्ति बनने की क्षमताएँ बनी रहती हैं।

(घ) जलवायु

जलवायु किसी भी राष्ट्र शक्ति बनने में हम भूमिका निभाती है किसी राष्ट्र के उत्पादन, जनसंख्या, मानव संसाधन आदि का विकास सम्भव है। यदि किसी राष्ट्र की जलवायु वहाँ की आबादी के रहने उद्योग करने, फलने-फूलने के लायक नहीं है तो वह राज्य एक बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। बड़े-बड़े रेगिस्तान, ठंडे पड़े क्षेत्र, तापमान की अधिकता व अपेक्षाकृत नमी वाले क्षेत्रों में रेगिस्तान ठंडे पड़े

क्षेत्र में राष्ट्रीय मानव संसाधन, वनस्पति उद्योग आदि का विकास सम्भव नहीं है। इसके लिए उपयुक्त जलवायु का होना अति आवश्यक है। वर्तमान सन्दर्भ में यह तर्क भी दिया जाता है कि विज्ञान के विकास ने प्रकृति की इन चुनौतियों पर कुछ हद तक विजय प्राप्त कर ली है। परन्तु यह तर्क एक दो दस व्यक्तियों या कुछ चन्द्र क्षेत्रों के विकास में शायद सहायक हो सके लेकिन सम्पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में सफल नहीं हो सकता है इसके अतिरिक्त प्राकृतिक स्थितियों का मानव व विज्ञान सीमित उपाय ढूँढ सकता है लेकिन उसकी विपरीत दिशा में ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता।

अतः किसी भी देश का आकार, स्थलाकृति, स्थिति व जलवायु सम्बन्धित भौगोलिक परिस्थितियां सहायक हो तभी उस राष्ट्र के शक्तिशाली बनने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।

2. प्राकृतिक

संसाधन एक राष्ट्र में प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता और संपन्नता का होना भी राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। किसी राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों के अंतर्गत खाद्यान्न, भूमि, जल, वन—संपदा और खनिज पदार्थ जैसे—लोहा, कोयला, कच्चा तेल (पेट्रोलियम), प्राकृतिक गैस, यूरेनियम, थोरियम इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अरब देशों की महत्वपूर्ण स्थिति का कारण वहां कच्चे तेल के विशाल भंडार की उपलब्धता है हालांकि, उसके बाद भी यह राष्ट्र महाशक्ति नहीं बन पाए। उसका कारण वैज्ञानिक और तकनीकी शक्ति के अभाव में कच्चे तेल का अन्वेषण, शोधन, विक्रय की क्षमता का कम होना रहा है इन देशों पर अमेरिका जैसी महाशक्ति का प्रभाव बना हुआ है। वर्तमान में सेंट्रल एशिया की राष्ट्रों में प्राकृतिक गैस और यूरेनियम, थोरियम जैसे खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, जो परमाणु ऊर्जा के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण से विश्व की महाशक्तियां जैसे— अमेरिका, रूस और चीन उन राष्ट्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ में लगी हुई हैं, जिससे वे उन राष्ट्रों के प्राकृतिक संसाधनों का अपने लाभ के लिए का दोहन कर सकें क्योंकि यह खनिज पदार्थ सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

खनिज पदार्थों के अलावा खाद्यान्न भी राष्ट्रीय शक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है। इसलिए मार्गैथारु ने भी कहा था खाद्यान्न में आत्मनिर्भर राष्ट्र, बेहतर स्थान पर है उन राष्ट्रों के मुकाबले जो दूसरे राष्ट्रों से खाद्यान्न का

आयात करते हैं। चीन, अमेरिका और भारत सबसे अधिक खाद्यान का उत्पादन करने वाले देश हैं।

(ब) राष्ट्रीय शक्ति के मानवीय तत्व

राष्ट्रीय शक्ति के मानवीय तत्व निम्नलिखित हैं—

1. जनसंख्या

भूगोल और प्राकृतिक संसाधनों की भांति किसी राष्ट्र की जनसंख्या भी राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। जनसंख्या का आकार किसी राज्य की आर्थिक और सैन्य क्षमता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। चीन इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसने अपनी विशाल जनसंख्या का लाभ उठाते हुए अपनी जनसंख्या को विभिन्न आर्थिक और वैज्ञानिक गतिविधियों में लगाकर आर्थिक विकास को तीव्र गति दी।

हालांकि तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति ने जनसंख्या के महत्व को कम करने का कार्य किया है। जहां कुछ विद्वान यह मानते हैं कि एक विशाल जनसंख्या के बिना एक बड़ी शक्ति विशेष रूप से महाशक्ति बनने की कल्पना करना मुश्किल है, वहीं दूसरी तरफ बहुत से विशेषज्ञ यह मानते हैं कि यह मानना गलत है कि जनसंख्या का आकार जितना विशाल होता है, राज्य की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। ब्रिटेन की जनसंख्या भारत और चीन जैसे देशों की तुलना में कम होते हुए भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक लंबे समय तक इसका प्रभाव महत्वपूर्ण बना रहा है।

2. सैन्य क्षमता

एक शक्तिशाली राष्ट्र के पास अपने संसाधनों एवं क्षमता के अनुरूप सैन्य शक्ति का होना भी आवश्यक है यह सैन्य क्षमता न अधिक बड़ी तथा न ही अधिक छोटी होनी चाहिए, बल्कि उस राष्ट्र की विदेश नीति की प्रतिबद्धताओं को लागू करने में सक्षम होनी चाहिए। यह सेना पूर्ण रूप से प्रशिक्षित एवं उचित समन्वय के आधार पर कार्य करने वाली होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में राष्ट्र की सैन्य क्षमता तीन प्रमुख तत्वों— सैन्य नेतृत्व, गुप्तचरी व्यवस्था एवं हथियारों की उपलब्धता पर निर्भर करती है।

किसी राष्ट्र की सेना कितनी ही सुसज्जित हो, बड़ी संख्या में हो, अच्छे

हथियार रखती हो आदि, परन्तु यदि उसका नेतृत्व कुशल हाथों में है तो अपने उद्देश्य में सफल होगी वरना असफल रहेगी। कुशल सामरिक रणनीति व स्थिति के अनुसार सैन्य संचालन से ही कोई भी सेना सही अर्थों में अपनी चुनौतियों का मुकाबला कर सकती है। आधुनिक युग में सैन्य कौशल के साथ-साथ दूसरे राष्ट्र की तैयारियों का अनुमान भी अतिआवश्यक होता है यह कार्य राष्ट्रों की गुप्तचारी सेवाओं में सैन्य कौशल के साथ-साथ राष्ट्र की तैयारियों का अनुमान भी अतिआवश्यक होता है। यह कार्य राष्ट्रों की गुप्तचरी सेवाओं के माध्यम से होता है। वर्तमान में गुप्तचरी आधुनिक संयंत्रों जैसे उपग्रहों आदि के माध्यम से भी होती है, परन्तु आज भी मानवीय तत्वों के द्वारा की जाने वाली गुप्तचरी को नहीं नकारा जा सकता।

गुप्तचरी की विफलता भी कई बार सैन्य हार या पेशानी का कारण हो सकता है भारत-चीन युद्ध (1962) व भारत-पाक कारगिल संघर्ष (1998) काफी हद तक गुप्तचरी व्यवस्था की असफलता का प्रतीक है। इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त हथियारों की उपलब्धता भी सैन्य शक्ति प्रदर्शन हेतु महत्वपूर्ण तत्व है वर्तमान समय में परमाणु हथियारों के विकसित होने से कई राष्ट्रों का मानना है कि सुरक्षा सुनिश्चित हो गई है लेकिन वास्तव में देखा जाए तो परमाणु जैविक एवं रासायनिक हथियार मुख्यतः निरोधक व्यवस्था हेतु अधिक प्रयोग होते हैं। ये हथियार युद्ध से अधिक राजनय के हथियार हैं लेकिन यह भी सत्य है कि ये आज भी शक्ति के प्रतीक के रूप में माने जाते हैं तथा इनको रखने वाले राष्ट्रों से युद्ध करने से पहले विरोधी राष्ट्र को कई बार सोचना पड़ता है। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वास्तविक युद्ध आज भी अति आधुनिकतम परम्परागत हथियार ही प्रयोग में लाये जाते हैं।

अतः किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र के पास कितने ही जैविक, परमाणु व रासायनिक हथियार हों, परन्तु परम्परागत हथियारों में श्रेष्ठता होना उसके लिए अति आवश्यक है।

3. विदेश नीति

राष्ट्रीय शक्ति के विकास में विदेश-नीति का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान युग में सभी राष्ट्रों को परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। विदेश-नीति की सफलता-असफलता का निर्णय इस आधार पर होता है कि संबंधित राष्ट्रों को किन-किन देशों का समर्थन व सहयोग मिलता है। विदेश-नीति का निर्माण किस

आधार पर किया जावे, यह बात विवादास्पद है। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि विदेश-नीति के निर्धारण के समय अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त यही होगा कि विदेश-नीति के क्षेत्र में मध्यम मार्ग अपनाया जावे। राष्ट्रीय-शक्ति के विकास में राजनयिकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

4. प्रौद्योगिकी

विज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान का नाम प्रौद्योगिकी है। तकनीकी के अंतर्गत आविष्कार और वे सभी साधन आते हैं, जो राष्ट्र की भौतिक समृद्धि में सहायक होते हैं। तकनीक का अर्थ है नई पद्धतियों का प्रयोग। यह एक तरह से पुराने तौर-तरीकों पर नूतन तौर तरीकों की विजय है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सैनिक तकनीक, औद्योगिक तकनीक व संचार तकनीकी ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। तकनीक पर देश की सुरक्षा और औद्योगिक तकनीक पर राष्ट्र की आय एवं देश की औद्योगिक संरचना निर्भर हैं। संचार तकनीकी ने देश के विकास हेतु वस्तुओं व विचारों का आदान-प्रदान संभव बना दिया है। तकनीकी के कारण एक राष्ट्र अपनी मान्यताओं, लक्ष्यों को बदल देता है। इससे जनसंख्या, आर्थिक तत्व, मनोबल आदि प्रभावित होते हैं। यह विदेश नीति को प्रभावित कर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करती है तथा राष्ट्रीय निर्माण का प्रमुख साधन है।

आज तकनीक ने विश्व को इतना छोटा बना दिया है कि या तो दुनिया के लोग मिलकर सहयोग करें या अपने को समाप्त करने का रास्ता पकड़ लें।

5. औद्योगिक क्षमता

औद्योगिक क्षमता राष्ट्र की महान शक्ति कहलाती है। औद्योगिक स्तर पर परिवर्तन शक्ति स्तर में भी परिवर्तन कर देता है औद्योगिक क्षमता के बिना कच्चे माल का कोई महत्व नहीं होता है। कच्चे माल को औद्योगिक उत्पादन में बदलना जरूरी है। जब तक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में ब्रिटेन का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, तब तक वह संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। अमेरिका व रूस का महाशक्ति होना उनकी औद्योगिक क्षमता ही है और इनकी शक्ति का मापन भी हम औद्योगिक क्षमता के आधार पर ही करते हैं।

6. मनोबल

राष्ट्रीय शक्ति का एक सूक्ष्म परन्तु प्रभावशाली तत्व मनोबल है। मनोबल का

अर्थ है किसी राष्ट्र के निवासियों में निष्ठा, विश्वास साहस आदि चारित्रिक गुणों का योग हैं। इन गुणों से न केवल व्यक्ति का आत्मविश्वास ही बढ़ता है अपितु इससे राष्ट्रीय हितों को भी बल मिलता है। कोई भी राष्ट्र तब तक सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक उसकी आन्तरिक व विदेश नीतियों को पूरे जोश व जन समर्थन हासिल न हो।

इसके द्वारा ही मनुष्य आपसी मतभेदों को भुलाकर स्वेच्छापूर्वक राष्ट्रीय हितों हेतु बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए तैयार हो जाता है। इसी मनोबल के आधार पर राष्ट्र अपनी संदिग्ध विजय को निश्चित जीत में बदल सकता है। इसे राष्ट्र प्रेम के समकक्ष भी माना जाता है। इसके सैनिकों में संचार से राष्ट्र बड़े-बड़े युद्ध भी जीत लेता है। वर्तमान युग में युद्ध जहां केवल सैनिकों तक सीमित न रहकर प्रत्येक नागरिक को भी शामिल करता है। उस दृष्टि से मनोबल और अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। मनोबल युद्ध से ही नहीं, अपितु शान्तिकाल में भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है।

राष्ट्रीय मनोबल बढ़ाने का प्रमुख रूप से चार कारक उत्तरदायी होते हैं—

- (क) राष्ट्र के साथ तादात्म्य,
- (ख) राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति
- (ग) सरकार में विश्वास
- (घ) विचारधारा

राष्ट्रीय तादात्म्य से अभिप्राय है कि नागरिक किस सीमा तक उस राष्ट्र से अपने को जुड़ा हुआ महसूस करता है। अपने गौरवमय इतिहास को पहचानता व उसी प्रकार गौरव बढ़ाना हेतु प्रयासरत रहना राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति कराता है। सरकार में विश्वास से उसका मनोबल और अधिक बढ़ जाता है। अन्ततः विचारधारा लोगों में दृढ़ता, एकता व मनोबल को जागृत करती है। इस प्रकार विभिन्न तरीकों से मनोबल भी राष्ट्रीय शक्ति में सहायक होता है।

7. नेतृत्व

लोकप्रिय व कुशल नेतृत्व राष्ट्रीय-शक्ति का आधारभूत तत्व है। सही नेतृत्व के द्वारा राष्ट्र के नागरिकों का मनोबल ऊँचा होता है। नेतृत्व का महत्व युद्धकाल व शांतिकाल दोनों में समान रूप से होता है, परन्तु युद्धकाल में यह बढ़ जाता

हैं। नेतृत्व का राष्ट्र के मनोबल के साथ गहरा संबंध है। राष्ट्र के मनोबल पर नेता का व्यक्तित्व गहरा प्रभाव डालता है। किसी-किसी नेता के प्रति जन-साधारण की अटूट निष्ठा होती है। जैसे— भारत-पाक युद्ध के समय श्रीमती इंदिरा गाँधी के प्रति भारत की जनता की अटूट निष्ठा थी। राष्ट्र के मनोबल को बढ़ाने में नेता का प्रभाव बहुत सहायक होता है।

राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएं

स्वतंत्र और सम्प्रभुता सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय जगत की इकाइयाँ हैं। ये सभी राष्ट्र हितों के अनुसार ही व्यवहार करते हैं और उसी के अनुसार शक्ति का प्रयोग भी करते हैं। फिर भी ये मनमानी करने के लिए स्वतंत्र नहीं होते हैं। इन पर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के सम्मान की जिम्मेदारी होती है। शक्ति का निरंकुश प्रयोग या मनमानी नहीं कर सकते हैं। राष्ट्रीय शक्ति की निम्नलिखित सीमायें हैं—

1. अंतरराष्ट्रीय कानून

अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने का कार्य करते हैं। यह नियमों की एक व्यवस्था के रूप में राष्ट्र राज्यों पर बाध्यकारी रूप में लागू होते हैं। वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय कानूनों का दायरा और प्रभाव में वृद्धि हुई है। हालांकि राष्ट्र की शक्ति को सीमित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय कानून की व्यवस्था को एक लचीली व्यवस्था समझा गया क्योंकि राष्ट्र राज्य एक संप्रभु निकाय हैं। अतः उन पर बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग संभव नहीं है। किंतु वर्तमान में बहुत से राष्ट्र पर अंतरराष्ट्रीय कानूनों के द्वारा उनकी शक्ति को सीमित करने का कार्य हुआ है।

2. अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता

अंतर्राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले तीसरा बाहरी तत्व है। जिस प्रकार समाज में मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये कुछ नैतिक नियम होते हैं। उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में राज्यों के व्यवहार को परिसीमन करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता होती है। शांति, व्यवस्था, समानता, अच्छाई, आपसी सहयोग, सभी लोगों के जीवन और उनकी स्वतंत्रता की समानता ऐसे मूल्य हैं जिन्हें प्रत्येक राज्य को एक अधिकार अथवा अच्छे मूल्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये और उनको व्यवहारिक रूप देना चाहिये। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता व्यवहार की ऐसी नैतिक संहिता है जिसका पालन प्रायः सभी देश अपने

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में करते हैं। यह नैतिक भावना प्रत्येक देश की राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन करने वाला एक तत्व बनती है।

3. विश्व जनमत

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाला चौथा तत्व है। विदेश नीति के लोकतंत्रीकरण व संचार क्रांति ने समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में एक संगठित व शक्तिशाली विश्व जनमत को जन्म दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में यह एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर उभरा है। संसार में शांति आंदोलन, परमाणु शस्त्रों का नियंत्रण के लिये आंदोलन, पृथ्वी के वातावरण संतुलन की सुरक्षा के लिये शक्तिशाली व स्वस्थ वातावरण आंदोलन तथा ऐसे ही अनेक दूसरे आंदोलन हैं जिनसे विश्व जनमत के अस्तित्व का पता चलता है। राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन करने के लिये यह एक बड़ी तेज़ी से उभरती हुई शक्ति है। विपरीत जनमत के डर से कई बार किसी देश को किसी विशेष नीति का अनुसरण करना छोड़ना पड़ता है। वैसे विश्व जनमत की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, यह अक्सर शक्तिशाली व आक्रमक राष्ट्रवाद की भावना से लोहा लेने में असमर्थ हो जाता है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई और द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने पर राष्ट्रसंघ असफल हो गया। 1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ (सं.छ.दे) की स्थापना हुई, जो अब तक कार्यरत है। 193 देश इसके सदस्य हैं। इसके चार्टर में कुछ उद्देश्यों की चर्चा की गयी है जिन्हें प्राप्त करने के लिए सदस्य देश वचनबद्ध हैं। राष्ट्रों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में दिये गये आदेशों के अनुसार करें।

5. सामूहिक सुरक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति को नियंत्रित करने, शांति स्थापना व आक्रमण निवारण में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा विशिष्ट महत्व रखती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से किसी सम्भावित आक्रमण का सामना व विरोध करने के लिए कृत संकल्प हो इकट्ठे हो जाते हैं। यह सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थापन की एक युक्ति है।

युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाज से समाप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु इस

सामूहिक सुरक्षा के द्वारा शक्ति के मनमाने उपयोग पर नियंत्रण की कोशिश करते हैं जो युद्ध का मूल कारण हैं। इस तरह सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था किसी राष्ट्र की शक्ति पर बहुत बड़ी सीमा हैं।

6. शक्ति संतुलन

राष्ट्रीय शक्ति पर सीमा के रूप में शक्ति संतुलन एक महत्वपूर्ण तथ्य है। कोई भी राष्ट्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता है। इस शक्ति संतुलन से अर्थ उस साम्यावस्था से होता है कि कोई राष्ट्र इतना अधिक शक्तिशाली न हो कि वह मनमानी कर सके, अपनी इच्छा दूसरे पर लाद सके। विश्व में शक्तिशाली राष्ट्र भी शक्ति संतुलन के पक्ष में ही रहते हैं। यह शक्ति संतुलन परिवर्तनशील है। विश्वशांति के लिए राष्ट्रों पर शक्ति संतुलन का दबाव होना जरूरी है। दबाव के कारण कोई राष्ट्र कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, अपनी शक्ति का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता, उसे शक्ति संतुलन व्यवस्था का सम्मान करना ही होता है।

7. निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण

किसी देश की राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने में निःशस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण को रखा जाता है। सैनिक शक्ति राष्ट्रीय शक्ति का एक बड़ा आयाम है इसलिये शस्त्रीकरण इसका अपरिहार्य भाग है। निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण को राष्ट्रीय शक्ति के परिसीमन के लिये एक विधि माना जाता है। शस्त्र नियंत्रण का अर्थ है शस्त्र दौरे पर अंकुश लगाना विशेषतया परमाणु शस्त्रों की दौरे को अंतर्राष्ट्रीय निर्णयों, नीतियों व योजनाओं द्वारा रोकने का प्रयत्न करना। शस्त्र नियंत्रण तथा शस्त्रों की दिशा में जितनी सफलता मिलेगी उतना ही राष्ट्रीय शक्ति का परिसीमन हो सकेगा।

शक्ति सन्तुलन

शक्ति सन्तुलन का सिद्धांत "अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का एक बुनियादी सिद्धांत" हैं। इस सिद्धांत को आधुनिक विचारकों ने "अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के आधारभूत सिद्धांत," सामान्य सामाजिक सिद्धांत की अभिव्यक्ति," राजनीति का यथासंभव मूलभूत नियम' आदि नामों की संज्ञा भी दी हैं।

जहां भी राज्य समुदाय होते हैं, वही शक्ति संतुलन का सिद्धांत क्रियाशील होता है। स्वाधीन राष्ट्रों में परम्परागत आपसी संबंधों की व्याख्या शक्ति संतुलन सिद्धांत से ही की जाती है। आचार्य कौटिल्य ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में शक्ति संतुलन का वर्णन किया है।

शक्ति संतुलन की सहायता से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं और राजनीतिज्ञों की व्यावहारिक नीतियों का विवेचन किया जाता है। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बनाए रखने के लिए एक बहुमूल्य यंत्र के रूप में शक्ति संतुलन ने अत्यधिक प्रतिष्ठा पायी है।

शक्ति संतुलन का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र-बिन्दु शक्ति है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी शक्ति एवं प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास करता है। ऐसा होने से समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था में राष्ट्रों के बीच एक प्रकार का संतुलन बना रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न राष्ट्र स्वयं को गुटों में इस प्रकार बाँटे रहते हैं कि एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों का समूह इतना शक्तिशाली नहीं होने दिया जाता जिससे कि वह दूसरों पर हावी हो सके अथवा उन्हें समाप्त कर दे। ऐसा भी है कि

शक्तिशाली राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह को तुरंत ही उतने ही शक्तिशाली वर्ग के विरोध का सामना करना पड़ जाता है और जब तक यह संतुलन बना रहता है तब तक राष्ट्रों की स्वतंत्रता की सुरक्षा का विश्वास बना रहता है। इस प्रकार शक्ति—सन्तुलन शक्ति—विभाजन की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें किसी एक राष्ट्र को अधिक शक्तिशाली होकर अन्य राष्ट्रों पर हावी नहीं होने दिया जाता। यह सिद्धांत ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'शक्ति—संतुलन' के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।

शक्ति संतुलन की परिभाषा

श्लीचर के अनुसार, "शक्ति संतुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्ष शक्ति की ओर संकेत करता है।"

जॉर्ज स्वार्जनबर्गर के अनुसार, "शक्ति संतुलन एक साम्यावस्था या शक्ति संबंधों में स्थिरता की एक निश्चित मात्रा है, जो अनुकूल परिस्थितियों में राज्यों के गठबंधन या अन्य उपकरणों द्वारा प्राप्त होती है।"

सिडनी बी. फे के अनुसार, "शक्ति संतुलन की व्यवस्था राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों के बीच शक्ति की एक ऐसी 'न्यायपूर्ण साम्यावस्था' है, जो कि किसी एक राष्ट्र को इतना अधिक शक्तिशाली बनने से रोकती है की वो अपनी इच्छा को दूसरे राष्ट्रों पर थोप सके।"

इनिस एल क्लाउड के अनुसार, "शक्ति संतुलन एक ऐसी प्रणाली है जिसमें कुछ राष्ट्र बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के अपने शक्ति संबंधों को नियंत्रित करते हैं। जैसे कि यह एक विकेन्द्रीकृत प्रणाली है जिसमें सत्ता और नीतियां इकाइयों के हाथ में रहती हैं।"

मार्टिन वाइन ने शक्ति संतुलन के दो अर्थ बताए हैं— पहला शक्ति का एक सामान वितरण और दूसरा ऐसी परिस्थितियों का निर्माण जिसमें कोई शक्ति इतनी शक्तिशाली न हो कि वह दूसरों के लिए खतरा पैदा कर सके।"

मार्गेथाऊ के अनुसार, "प्रत्येक राष्ट्र द्वारा वर्तमान स्थिति को कायम रखने या पूरी तरह परिवर्तित करने के लिए अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है जिसके फलस्वरूप जिस व्यवस्था की आवश्यकता होती वह शक्ति संतुलन की व्यवस्था कहलाती है।"

प्रो. फे. के अनुसार, "शक्ति संतुलन का अर्थ है राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों की शक्ति में न्यायपूर्ण तुल्यभारिता, जो किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लादने से रोक सके।"

शक्ति संतुलन की विशेषताएं

शक्ति संतुलन की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. शक्ति संतुलन स्थाई नहीं होता

विश्व के राष्ट्रों के बीच शक्ति-संतुलन हमेशा बना नहीं रह सकता।

2. प्रयास का परिणाम

शक्ति-संतुलन की स्थापना स्वतः ही नहीं हो जाती, इसके लिये प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार यह स्वचालित नहीं है।

3. युद्ध मापदंड

शक्ति-संतुलन का निश्चित मापदंड 'युद्ध' है, क्योंकि यह प्रायः तभी प्रारंभ होते हैं जबकि शक्ति-संतुलन विच्छिन्न हो जाता है।

4. गतिशीलता

शक्ति-संतुलन की नीति गतिशील एवं परिवर्तनशील है।

5. दृष्टि-मतभेद

इतिहासकार शक्ति-संतुलन को वस्तुगत दृष्टि से देखते हैं किन्तु राजनीतिज्ञ उसे विषयगत दृष्टि से देखते हैं, इस प्रकार दोनों दृष्टियों में भेद है।

6. सभी शासनों में अनुपयुक्त

शक्ति-संतुलन न तो प्रजातंत्रात्मक देशों के लिये ही उपयुक्त है और न तानाशाही देशों के लिये उपयुक्त है। यह दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियों को प्रभावित करता है।

7. बड़े राष्ट्रों का खेल

शक्ति-संतुलन के खेल में केवल बड़े-बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते हैं, छोटे

राष्ट्र केवल प्रभावित होते हैं या मात्र दर्शक के रूप में देखते रहते हैं। किन्तु यदि वे आपस में मिल जायें तो इस खेल में सक्रिय हिस्सेदार भी बन सकते हैं।

शक्ति संतुलन का सिद्धांत

“शक्ति संतुलन सिद्धांत कई शताब्दियों की बहुध्रुवीयता और कुछ दशकों की द्विध्रुवीयता से विकसित हुआ है। आज दुनिया अभूतपूर्व एकध्रुवीयता की विशेषता है। इसलिए, शक्ति संतुलन सिद्धांत उस दुनिया के लिए मार्गदर्शन प्रदान नहीं कर सकता जिसमें हम हैं।”

इस कथन के जवाब में, निबंध सबसे पहले इसके तर्क में निहित तार्किक भ्रांति पर चर्चा करेगा: हालाँकि शक्ति संतुलन सिद्धांत (ठळ) (1) विश्व राजनीति में कुछ प्रकार के शक्ति विन्यास के साथ-साथ उभरा — इस मामले में बहुध्रुवीयता और द्विध्रुवीयता — लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यह इन प्रकार के विन्यास ही थे जिन्होंने सिद्धांत को जन्म दिया। बहुध्रुवीयता और द्विध्रुवीयता को अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के अंतर्निहित तर्क की अभिव्यक्ति के रूप में माना जा सकता है और माना जाना चाहिए, जिसे ठळ सिद्धांत भी दर्शाता है। एक अराजक प्रणाली में राज्यों की सापेक्ष स्थिति का यह तर्क, जैसा कि यह निबंध तर्क देगा, ठळ सिद्धांत के उद्भव के बाद से मौलिक रूप से नहीं बदला है। यह कथन के साथ दूसरी अनुभवजन्य समस्या की ओर ले जाता है। एक ओर, अमेरिकी आधिपत्य की विशेषता वाली एक वास्तविक एकध्रुवीयता शीत युद्ध की समाप्ति से बहुत पहले से मौजूद है। दूसरी ओर, चीन की वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक स्थिति इसे संयुक्त राज्य अमेरिका के मुकाबले एक छद्म महाशक्ति की स्थिति में रखती है। इन दोनों का मतलब है कि शीत युद्ध की द्विध्रुवीयता के सापेक्ष आज हम जो एकध्रुवीयता देखते हैं, वह अगर कोई है, तो कमज़ोर है। इसलिए, द्विध्रुवीय दुनिया में ठळ की प्रासंगिकता आज की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में बनी रहेगी।

हमें सबसे पहले उस तर्क को समझना चाहिए जिसने ठळ सिद्धांत को जन्म दिया। दो धारणाएँ मुख्य रूप से प्रासंगिक हैं। सबसे पहले, अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली को अराजक माना जाता है, जिसके एजेंटों पर औपचारिक रूप से कोई सिस्टम-व्यापी अधिकार लागू नहीं किया जाता है (वाल्ड्ज 1979, 88)। सिस्टम की इस “स्व-सहायता” प्रकृति के कारण, राज्यों के पास खतरे की स्थिति में सहारा लेने के लिए कोई विश्व सरकार नहीं है, लेकिन वे केवल आत्म-मजबूत करने के आंतरिक प्रयासों या अन्य राज्यों के साथ संरेखण और पुनर्संरेखण के बाहरी

प्रयासों के माध्यम से एक-दूसरे के सापेक्ष अपनी क्षमताओं को बढ़ाने का प्रयास कर सकते हैं (वाल्ड्ज 1979, 118)। दूसरा, राज्य अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में मुख्य अभिनेता हैं, क्योंकि वे "संभोग की शर्तें निर्धारित करते हैं" (वाल्ड्ज 1979, 96), अपने क्षेत्रों के भीतर "बल के वैध उपयोग" (वाल्ड्ज 1979, 104) पर एकाधिकार करते हैं, और आम तौर पर "एकल आवाज़" में विदेश नीति का संचालन करते हैं (वाल्ड्ज 1959, 178-179)। इसलिए राज्यों को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एकात्मक अभिनेता भी माना जाता है। यह बाद की धारणा महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि गैर-राज्य या अंतरराष्ट्रीय अभिनेता राज्य अभिनेताओं को चुनौती देने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली हैं, तो दुनिया में शक्ति विन्यास को अब ध्रुवीयता के संदर्भ में नहीं बल्कि नीति "नेटवर्क" की परतों की संख्या के संदर्भ में माना जा सकता है (2)। यह निबंध अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के बारे में इन दो मुख्य मान्यताओं पर अपने तर्क को आधारित करता है क्योंकि उन्हें न केवल यथार्थवाद और नवयथार्थवाद में बल्कि नवउदारवादी संस्थागतवाद (केओहेन 1984, आदि) में भी व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है और कुछ हद तक, रचनावाद (वेंड्ट 1999, आदि) में भी। इस प्रकार, वे सापेक्ष शक्ति अधिकतमीकरण जैसे विशेष रूप से यथार्थवादी या नवयथार्थवादी मान्यताओं से व्युत्पन्न नहीं हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए, निबंध अब इस बात पर चर्चा करेगा कि शक्ति संतुलन को समझाने के लिए ध्रुवीयता न तो पर्याप्त है और न ही आवश्यक है। पर्याप्तता के प्रश्न का उत्तर इस बात के संदर्भ में दिया जा सकता है कि बहुध्रुवीय या द्विध्रुवीय दुनिया में भी शक्ति संतुलन हमेशा क्यों नहीं होता है, और आवश्यकता के संदर्भ में यह कि एकध्रुवीयता के साथ भी शक्ति संतुलन क्यों हो सकता है। वाल्ड्ज के अनुसार, शक्ति संतुलन तब होता है, जब अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में "दो गठबंधन" बनते हैं, द्वितीयक राज्य, यदि चुनने के लिए स्वतंत्र हैं, तो कमजोर पक्ष का पक्ष लेंगे, ताकि मजबूत पक्ष से खतरा न हो (वाल्ड्ज 1979, 127)। इस स्थिति ने कुछ लोगों को एकध्रुवीय दुनिया में ठळ की वैधता पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित किया है, क्योंकि सिद्धांत को बनाए रखने के लिए सिस्टम में दो या अधिक राज्यों का सह-अस्तित्व होना आवश्यक है (वाल्ड्ज 1979, 118)।

हालांकि, जैसा कि इस निबंध में उल्लेख किया गया है, एक बार जब हम दो मुख्य मान्यताओं (अराजकता और राज्यों के प्रमुख अभिनेता होने की) को स्वीकार कर लेते हैं, तो BOP के प्रासंगिक होने के लिए यह शर्त आवश्यक नहीं है। शक्ति का संतुलन, जैसा कि वाल्ड्ज सुझाव देते हैं, एक "परिणाम" है – एक

परिणामी चर जो व्याख्यात्मक चर के कारण प्रभाव को दर्शाता है जो उनके सिद्धांत में, अराजकता और अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में शक्ति का वितरण है। वाल्ट्ज के अपने तर्क के भीतर इस तनाव ने वास्तव में आलोचना को आमंत्रित किया है कि ठळ सिद्धांत का उनका संस्करण अनिवार्य रूप से एक आश्रित चर (शक्ति संतुलन की घटना) को दूसरे (ध्रुवीयता) के साथ समझाने का प्रयास कर रहा है (लेबो, 27)। इसलिए, इस संभावित खामियों को दूर करने के लिए, हमें यह जांच कर BOP की प्रासंगिकता का आकलन करने की आवश्यकता है कि क्या वही संरचनात्मक बाधाएं जो बहुध्रुवीय या द्विध्रुवीय प्रणालियों में संतुलन पैदा करती हैं, एकध्रुवीय दुनिया में भी मौजूद हैं।

यदि शक्ति संतुलन को सिस्टम की ध्रुवीयता से सीधे नहीं निकाला जा सकता है, तो फिर इसके होने की भविष्यवाणी क्या करेगी? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दो मुख्य मान्यताओं पर वापस जाना होगा और देखना होगा कि इन मान्यताओं से कौन से व्याख्यात्मक चर निकाले जा सकते हैं, जिनका संतुलन के संबंध में कुछ अवलोकनीय निहितार्थ होंगे। इसलिए, शक्ति संतुलन की संभावना इन चरों का एक कार्य है, जो इस निबंध में दिखाए गए अनुसार, 1) इरादे , विशेष रूप से सिस्टम में प्रमुख शक्तियों के इरादे या कथित इरादे, 2) राज्यों की प्राथमिकता , विशेष रूप से पूर्ण और सापेक्ष लाभों के बीच, और 3) आकस्मिकता , जो अक्सर किसी दिए गए परिस्थिति में नई जानकारी की उपलब्धता से संबंधित होती है, जो पहले दो चर को बाहरी रूप से बदल सकती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि तीनों में से कोई भी प्रभावी होने के लिए एक निश्चित प्रकार की ध्रुवीयता पर सशर्त नहीं है।

किसी प्रमुख शक्ति का इरादा या कथित इरादा यह निर्धारित करता है कि क्या द्वितीयक राज्य बैडवैगनिंग जैसे अन्य विकल्पों पर संतुलन को प्राथमिकता देंगे। हम इसे इस रूप में सोच सकते हैं कि क्यों छोटे राज्य कभी-कभी सिस्टम में सबसे मजबूत शक्ति के क्षेत्र में झुक जाते हैं और क्यों वे कभी-कभी इससे दूर रहते हैं, या दूसरी सबसे बड़ी शक्ति के साथ मिलकर इसे चुनौती देते हैं, अगर कोई हो। सुरक्षा दुविधा के तहत सहयोग की स्थितियों के अपने विश्लेषण में, रॉबर्ट जर्विस दिखाते हैं कि जब व्यापक आक्रामक लाभ और आक्रमण और रक्षा के बीच अविभाज्यता होती है (सबसे खराब स्थिति) परिदृश्य), राज्यों के बीच सुरक्षा दुविधा इतनी तीव्र हो सकती है कि यह किसी भी शक्ति संतुलन के लिए आवश्यक "तरलता" को निचोड़ सकती है (जर्विस 1978, 186-189)। गलत

“अनुमान” लगाकर, आक्रामक लाभ और आक्रमण-रक्षा अविभाज्यता अंततः विरोधी के आक्रामक या गैर-आक्रामक होने के कथित इरादे को बदलने का काम करती है (जर्विस 1978, 201)। यह तब छोटे राज्यों के निर्णय को निर्देशित करेगा कि वे इस कदम को संतुलित करें या नहीं। हालांकि, अगर प्रमुख शक्ति के पास न केवल एक गैर-आक्रामक इरादा है, बल्कि कुछ सार्वजनिक वस्तुओं को प्रदान करने का एक सौम्य इरादा भी है, तो छोटे राज्य बदले में प्रमुख शक्ति के प्रभाव क्षेत्र को प्रस्तुत करते हुए इन लाभों पर मुफ्त सवारी करना चुन सकते हैं; तब तथाकथित “आधिपत्य स्थिरता” का परिणाम हो सकता है (केओहेन 1984, 12)। इस प्रकार कथित इरादे के आयाम के साथ, शक्ति का संतुलन तब होता है जब राज्यों को प्रमुख शक्ति या आधिपत्य के इरादे के बारे में संदेह होता है, लेकिन इस हद तक नहीं कि युद्ध की स्थिति इतनी आसन्न हो कि संतुलन बनाना असंभव हो जाए।

दूसरा, शक्ति संतुलन राज्यों की सापेक्ष बनाम पूर्ण लाभ की प्राथमिकता से निकटता से संबंधित है। आक्रामक यथार्थवादी दृष्टिकोण से, जॉन मियरशाइमर का तर्क है कि शक्ति संतुलन से संबंधित राज्यों को पूर्ण लाभ के बजाय सापेक्ष के संदर्भ में सोचना चाहिए – अर्थात्, दूसरों पर उनका सैन्य लाभ, चाहे उनमें से प्रत्येक के पास कितनी भी क्षमता क्यों न हो। यहाँ अंतर्निहित तर्क एक साथ सहज है – एक स्व-सहायता प्रणाली और स्वार्थी राज्यों को देखते हुए, “एक राज्य के पास जितना अधिक सैन्य लाभ होगा...वह उतना ही अधिक सुरक्षित होगा” (मियरशाइमर 1994-95, 11-12) – और समस्याग्रस्त है क्योंकि सहायक धारणा कि प्रत्येक राज्य हमेशा सिस्टम में अधिकतम सैन्य शक्ति रखना पसंद करेगा (मियरशाइमर 1994-95, 12) व्यावहारिक रूप से अर्थहीन है। इसी तरह, जोसेफ ग्रिएको बताते हैं कि अराजक प्रणाली में युद्ध की हमेशा मौजूद संभावना के साथ, राज्य अपने सहयोगियों के साथ भी सहयोग नहीं कर सकते हैं क्योंकि अस्तित्व केवल “आनुपातिक लाभ” के साथ ही गारंटीकृत है (बाल्डविन एड में ग्रिएको, 127-130)। सापेक्ष लाभ की चिंता यह पूर्वानुमान लगाती है कि राज्य सामूहिक सुरक्षा की अपेक्षा शक्ति संतुलन को प्राथमिकता देंगे, क्योंकि सामूहिक सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि राज्य एक-दूसरे पर इतना भरोसा करें कि वे एकतरफा निरस्त्रीकरण के माध्यम से सापेक्ष लाभ को पूरी तरह त्याग दें, जो कि स्वाभाविक रूप से आत्मरक्षा के लिए स्थितिगत लाभ प्राप्त करने के विचार के विपरीत है (मियरशाइमर 1994-95, 36)।

इस बीच, नवउदारवादी संस्थागत सहयोग सिद्धांत अनिवार्य रूप से राज्यों द्वारा सहयोग प्राप्त करने के लिए सापेक्ष लाभ की तुलना में पूर्ण लाभ की खोज को मानता है (केओहेन 1984, 68)। इसलिए, व्यापक स्तर पर, सापेक्ष लाभ की खोज उच्च और निम्न राजनीति दोनों में सामान्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को कम कर देगी। यह कहना सुरक्षित है कि व्यवहार में, राज्य अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग डिग्री पर सापेक्ष और पूर्ण लाभ दोनों से चिंतित हैं। डंकन स्निडल और रॉबर्ट एक्सेलरोड जैसे विद्वानों ने उन स्थितियों की जटिलता को सख्ती से प्रदर्शित किया है जिसमें ये दो प्रतिस्पर्धी हित गतिशील रूप से परस्पर क्रिया करते हैं और समय के साथ बदलते हैं (उदाहरण के लिए बाल्डविन एड में स्निडल और एक्सेलरोड 1984, अध्याय 2 देखें)। सामान्य तौर पर, हालांकि, सापेक्ष लाभ और, अधिक विशेष रूप से, राज्यों के बीच सैन्य स्थिति के लिए प्रचलित प्राथमिकता सामूहिक सुरक्षा के सापेक्ष सन्तुलन की संभावना को बढ़ाती है। यदि राज्य इसके बजाय पूर्ण लाभ का पक्ष लेते हैं, तो हमें गहन अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों और बहुलवादी सुरक्षा समुदायों जैसी घटनाएँ देखने की अधिक संभावना है।

लेकिन अगर कोई ऐसा घातक आधिपत्य भी मौजूद हो जिसके खिलाफ दूसरे राज्य सन्तुलन बनाना चाहते हों और सभी राज्य सापेक्ष लाभ की तलाश में हों, तो भी शक्ति सन्तुलन सशर्त होगा। यानी, उपर्युक्त प्रणालीगत बाधाओं के साथ भी, प्रत्येक स्थिति के लिए विशिष्ट आकस्मिक कारकों को जाने बिना शक्ति सन्तुलन नहीं दिया जा सकता। अराजक प्रणाली का एक अतिरिक्त निहितार्थ सूचना की कमी से उत्पन्न व्यापक अनिश्चितता है, क्योंकि युद्ध की स्थिति में अपनी स्थिति को आगे बढ़ाने के लिए सभी राज्यों के पास गलत बयानी करने का प्रोत्साहन होता है (फियरन 1998, 274)। यह बताता है कि, शायद विरोधाभासी तरीके से, ऐतिहासिक रूप से बहुध्रुवीयता और द्विध्रुवीयता की अवधि में भी, जो गहन संदेह और तनाव की विशेषता थी, सन्तुलन उतनी बार नहीं हुआ जितना कि बीओपी भविष्यवाणी करता है। मूल बात नई जानकारी की अप्रत्याशित उपलब्धता है जो पहले से मौजूद मान्यताओं और प्राथमिकताओं को बदलकर कार्रवाई के तरीके में बदलाव लाती है। 1800 के दशक में उभरते चुनौतीकर्ता प्रशिया की स्पष्ट विस्तारवादी प्रवृत्ति के बावजूद उसे समर्थन देने के लिए यूरोपीय राज्यों के सामूहिक निर्णय से पता चलता है कि न तो इरादे और न ही वरीयता को निश्चित माना जा सकता है, बल्कि दोनों ही परिस्थितिजन्य निर्माण के अधीन

हैं (गोडार्ड, 119)।

संकट के समय में, यह निर्माण प्रभाव विशेष रूप से मजबूत हो सकता है। यह अंतर-युद्ध काल की विशेषता थी और इसके परिणामस्वरूप यूरोपीय राज्यों के सीखने में महत्वपूर्ण देरी हुई, जो अन्यथा संशोधनवादी जर्मनी के खिलाफ अधिक संतुलन बना सकते थे (जर्विस 1978, 184)। पहले युद्ध से सामूहिक सुरक्षा की भावना में फंसे हुए, ये राज्य संतुलन के उदासीन व्यवहार पर स्विच करने के लिए बहुत "गर्म-मिजाज" थे (वेइसिंगर, व्याख्यान)। हालाँकि, इसका जर्मनी के बारे में उनकी धारणा या सापेक्ष/पूर्ण लाभ की उनकी खोज से कम लेना-देना था, जो प्रथम विश्व युद्ध के आघात के परिवर्तनकारी प्रभाव से अधिक था। संक्षेप में, किसी दिए गए परिस्थिति में सूचना का प्रवाह जितना तेज़ और अप्रत्याशित होता है, उतनी ही कम संभावना होती है कि मौजूदा मान्यताओं और प्राथमिकताओं पर निर्भर शक्ति संतुलन पूर्वानुमान के अनुसार होगा।

यह दर्शाने के बाद कि BOP का ध्रुवीकरण से कम और आक्रामकता के इरादे, सापेक्ष लाभ की प्राथमिकता और अराजक दुनिया में परिस्थितिजन्य कारकों से ज़्यादा लेना-देना है, यह निबंध अब दिखाएगा कि हमारी वर्तमान प्रणाली, जो अमेरिकी आधिपत्य की विशेषता है, पिछली प्रणालियों से इतनी अलग क्यों नहीं है।

ऐसा करने से न केवल पहले बताए गए आवश्यकता के प्रश्न का समाधान होगा, बल्कि यह भी पता चलेगा कि भले ही हम इस आधार को स्वीकार कर लें कि BOP बहुध्रुवीयता और द्विध्रुवीयता की तुलना में एकध्रुवीयता पर कम लागू होता है, लेकिन यह आज की दुनिया के लिए BOP की प्रासंगिकता को शायद ही प्रभावित करता है।

हालांकि शीत युद्ध के दौरान BOP को बहुत लाभ मिला, जिसे द्विध्रुवीयता का एक पाठ्यपुस्तक मामला माना जाता है, उस समय वाल्ट्ज द्वारा अमेरिकी प्रभुत्व की चर्चा पर करीब से नज़र डालने से पता चलता है कि वास्तव में द्विध्रुवीयता के बजाय अमेरिकी आधिपत्य की तस्वीर क्या है (वाल्ट्ज 1979, 146–160)। हालाँकि, सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अमेरिका और यूएसएसआर के बीच इस बढ़ते अंतर के साथ-साथ, अमेरिका के खिलाफ शक्ति संतुलन में कोई वृद्धि नहीं हुई। इसके बजाय, हमने इसके विपरीत होते देखा, जहाँ सोवियत उपग्रह राज्य एक के बाद एक दूर जाने लगे। यह द्विध्रुवीयता के लिए भी ठूँक की

व्याख्यात्मक शक्ति को बहुत कमजोर करता है। सोवियत पतन के वर्षों के रिचर्ड लेबो का संक्षिप्त सारांश यह दर्शाता है कि न केवल यूएसएसआर की उत्पादकता अमेरिका की तुलना में बहुत कम थी, बल्कि इसकी सैन्य (परमाणु) क्षमताएं भी कभी उस स्तर तक नहीं पहुंचीं कि वह अमेरिका को वास्तविक चुनौती दे सके। इसलिए, शीत युद्ध के दौरान सख्त द्विध्रुवीयता की वास्तविक अवधि पारंपरिक रूप से मानी जाने वाली अवधि से बहुत कम है (लेबो, 28–31)। यह बहस का विषय है कि सोवियत “विसंगति” किस हद तक मुख्य रूप से धारणा, वरीयता या आकस्मिकता (जैसे कि रिसे, 26 में चर्चा की गई है) का परिणाम थी, लेकिन शक्ति संतुलन और ध्रुवता के बीच प्रमुख मतभेद इस निबंध के तर्क को और अधिक समर्थन देते हैं कि बीओपी ध्रुवता से ही निर्धारित नहीं होती

इसलिए, द्विध्रुवीय शीत युद्ध प्रणाली और एकध्रुवीय शीत युद्ध के बाद की प्रणाली के बीच का सीमांकन सबसे अच्छा है। हाल के दशकों में चीन के उदय से यह और जटिल हो गया है। चीजों को परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए: शीत युद्ध के चरम पर, अमेरिका ने + 5,200 बिलियन (यूएसडी) की जीडीपी का आनंद लिया — यूएसएसआर (+ 2,700 बिलियन) का लगभग दोगुना। पिछले साल तक, यह + 16,000 था — जो चीन (+ 8,200 बिलियन) का लगभग दोगुना है। अगर हम परमाणु क्षमता से महाशक्ति की स्थिति को मापें (जिसका उपयोग कई विद्वान शीत युद्ध की शुरुआत को इंगित करने के लिए करते हैं), तो तस्वीर और भी अस्पष्ट है, जिसमें वर्तमान में नौ राज्यों के पास परमाणु हथियार हैं, जिनमें उत्तर कोरिया भी शामिल है।

आज अमेरिकी आधिपत्य पर सवाल उठाने के बजाय, जो इस पेपर का इरादा नहीं है, ये तथ्य हमें ध्रुवीयता के हाल के चरणों की असततता के बजाय निरंतरता की याद दिलाने का काम करते हैं। इस वजह से, वर्तमान में कथित एकध्रुवीयता का राज्य व्यवहार को समझाने में ठळ सिद्धांत की वैधता पर बहुत कम असर पड़ता है। हंस मोर्गेन्थौ मानव इतिहास में शक्ति संतुलन को एक “सदाबहार तत्व” के रूप में पुष्टि करते हैं, भले ही अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली जिस “समकालीन परिस्थितियों” के तहत काम करती हो (मोर्गेन्थौ, 9–10)। BOP सिद्धांत का सार शक्ति संतुलन की घटना तक सीमित नहीं किया जा सकता है। अराजकता और राज्य अभिनेताओं की प्रधानता के तर्क के साथ, इसलिए, हम एकध्रुवीय प्रणाली में भी अमेरिका के खिलाफ संतुलन की स्थिति की कल्पना कर सकते हैं — अगर अमेरिका को अब एक सौम्य आधिपत्य के रूप में नहीं माना जाता

है और अगर राज्य इसके परिणामस्वरूप अपने सैन्य नुकसान के बारे में अधिक चिंतित हैं, खासकर जब परिस्थितिजन्य कारकों और कूटनीतिक प्रयासों का संयोजन धारणा और वरीयता में इस तरह के बदलाव को और सुविधाजनक बनाता है।

शक्ति संतुलन के गुण

शक्ति संतुलन के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. शांति बनाए रखने में सहायक

यह माना जाता है कि शक्ति संतुलन से संसार के विभिन्न भागों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। शक्ति संतुलन हो जाता है। सभी पक्ष लगभग एक समान शक्तिशाली होने के कारण युद्ध नहीं करते। इससे शक्ति संतुलन शांति स्थापित करने में सहायक होता है।

2. छोटे राज्यों की सुरक्षा

शक्ति संतुलन से छोटे राज्य भी किसी न किसी शक्तिशाली राज्य के साथ सैनिक संधि द्वारा या किसी अन्य रूप से जुड़ जाते हैं। इससे छोटे व शक्तिहीन राज्य भी अपनी सुरक्षा करने में सफल होते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन में सहायक

यह माना जाता है कि शासन सन्तुलन के कारण शांति का वातावरण बनता है। इससे राज्यों के बीच संबंधों का सामान्यीकरण होता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन होता है।

4. व्यापार व्यवसाय में वृद्धि

शक्ति संतुलन के कारण राज्यों के मध्य तनाव तो रहता है, पर सामान्यतः युद्ध नहीं होता। तनाव शैथिल्य की अवस्था में राज्यों के बीच व्यापार व्यवसाय में वृद्धि होती है। जो छोटे राज्य शक्तिशाली राज्यों के संपर्क में आते हैं, उनके आर्थिक विकास में भी सहायता मिलती है।

शक्ति संतुलन के दोष

शक्ति संतुलन के निम्नलिखित दोष हैं—

1. तनाव में वृद्धि

शक्ति संतुलन के नाम पर प्रत्येक पक्ष अपनी शक्ति में वृद्धि करता रहता है। उसकी दृष्टि में शक्ति संतुलन तभी स्थापित होता है, जब शक्ति का पलड़ा उसकी ओर झुके। अतः सभी राज्य अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहते हैं। इससे संसार के अनेक भागों में तनावों में वृद्धि होती है।

2. शस्त्रीकरण की दौड़

शक्ति संतुलन स्थापित करने के लिए सभी राज्य अपनी शक्ति बढ़ाने लगते हैं, तो इसका परिणाम यह होता है कि राज्यों के बीच शस्त्रीकरण की होड़ लग जाती है, अत्यंत घातक शस्त्रों का निर्माण होने लगता है। आज स्थिति यह है कि परमाणु शस्त्रों के निर्माण के बाद अब राष्ट्रपति रेगन अन्तरिक्ष में भी युद्ध को ले गये हैं। इसे 'स्टार वार' कहा जाता है। प्रतिदिन करोड़ों डालर संसार के विनाश पर खर्च किये जाने लगे हैं।

3. छोटे राज्यों का उपयोग

शक्ति संतुलन स्थापित करने के लिए शक्तिशाली राज्य छोटे राज्यों को अपनी 'गोट' बनाते रहते हैं। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे छोटे राज्यों का उपयोग करते हैं। महाशक्तियाँ छोटे राज्यों पर सैनिक संधियाँ लादती हैं, उनका विभाजन करती हैं, उनके भीतर तोड़-फोड़ करती हैं।

4. शक्ति संतुलन एक कल्पना

सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि शक्ति सन्तुलन स्थापित हो गया। परन्तु, शक्ति संतुलन को नापने की कोई विधि नहीं है। यह केवल एक कल्पना मात्र है। एक काल्पनिक स्थिति की दौड़ में राष्ट्र दौड़ते रहते हैं।

5. शक्ति सर्वोच्च नहीं है

शक्ति संतुलन की अवधारणा यह है कि शक्ति ही सर्वोच्च है, वास्तव में शक्ति ही सर्वोच्च नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शक्ति के अतिरिक्त अनेक ऐसे तत्व हैं, जो रक्षा करते हैं और राज्यों के संबंधों को सहज बनाते हैं।

शक्ति संतुलन स्थापित करने की पद्धतियाँ

विश्व में शांति की स्थापना हेतु युद्धों को रोकने, शक्ति के दुरुपयोग को

रोकने तथा प्रत्येक देश की सम्प्रभुता व निर्णय लेने की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिए शक्ति संतुलन के प्रयास करना आवश्यक हैं। शक्ति सन्तुलन में ही राष्ट्रीय हित भी निहित होते हैं। शक्ति संतुलन वर्तमान में एक खेल बन गया है जिसके अपने नियम व तकनीक हैं।

मार्गेन्थाऊ के मत में, "शक्ति संतुलन की स्थापना या पलड़े के भारी वजन को कम करने या हलके पलड़े में वजन डालकर होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन के कुछ तरीके/वीधियां/पद्धति निम्नानुसार अपनायी जाती हैं—

1. क्षतिपूर्ति

क्षतिपूर्ति से यह अभिप्राय है कि एक राज्य को उतना दो जितना लिया गया है, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तुल्यभारिता बनी रहे। युद्धों के बाद शांति संधियों में इसी आधार पर बंटवारा होता है। भू-भाग वितरण में क्षेत्रफल ही नहीं, बल्कि उर्वरता, औद्योगिक क्षमता तथा साधनों की प्रचुर मात्रा का भी ध्यान रखा जाता है।

2. हस्तक्षेप

शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के लिए हस्तक्षेप भी किए जाते हैं, युद्ध भी लड़े जाते हैं। हस्तक्षेप का अर्थ एक देश की विदेश नीति के उन पहलुओं व कर््यों से लगया जाता है, जिन्हें दूसरा देश अपने कार्य मानता है। महाशक्तियों द्वारा इसके प्रयोग को विश्व मंच पर समय-समय पर देखा जा सकता है।

एक देश सशस्त्रीकरण, औद्योगिकरण एवं उत्पादन बढ़ाकर शांतिप्रिय राज्य के स्थान पर आक्रमक राज्य बन सकता है, जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ता है। अतः ऐसी स्थिति में अन्य राज्य या तो मूकदर्शक बने रहे या प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करें।

3. संधियाँ

जब कोई राष्ट्र अपने शत्रु राष्ट्र से कमजोर होता है वह अन्य शक्तिशाली राष्ट्र से संधि कर शक्ति-संतुलन स्थापित कर चुनौती देता है। संधि रक्षात्मक या आक्रामणात्मक कैसी भी हो सकती है। दोनों से ही शक्ति संतुलन स्थापित होता है। संधियाँ कम समय के लिए या लम्बे समय के लिये भी हो सकती हैं। इन संधियों का अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर व्यापक प्रभाव होता है। संधियों के उद्देश्य भिन्न

समयों पर अलग हो सकते हैं। वर्तमान समय में नाटों, सीटों, सेन्टो तथा वारसा पैक्ट आदि बहुपक्षीय व द्विपक्षीय संधियाँ विद्यमान हैं। पामर तथा पर्किन्स के अनुसार, "यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्यों की प्रत्येक संधि का संबंध शक्ति संतुलन से रहता है चाहे उसका विस्तार क्षेत्रीय हो, गोलाद्धीय हो अथवा विश्वव्यापी।

4. फूट डालो और शासन करो

भेद नीति भी शक्ति संतुलन स्थापित करने का एक साधन है। कम ताकतवर राष्ट्र अपने शत्रु राष्ट्रों में फूट डालकर शत्रु राष्ट्र की शक्ति का सन्तुलन बनाना चाहते हैं। आज महाशक्तियाँ एक-दूसरे के गुट में फूट डालने का प्रयास करती हैं। 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति का प्रयोग उन राष्ट्रों द्वारा किया गया है, जिन्होंने प्रतिस्पर्धियों को विभाजित करके अथवा उन्हें विभाजित रखकर निर्बल बनाने अथवा बनाये रखने का प्रयत्न किया है। इसलिए कई बार विभिन्न एकीकरणों का विरोध भी इन्हीं नीतियों के आधार पर किया जाता रहा है।

5. मध्यवर्ती राज्य

शक्ति स्थापित करने के लिए शक्तिशाली शत्रु राज्यों के मध्य 'मध्यवर्ती राज्य' का निर्माण करना भी जरूरी हो जाता है इस मध्य राज्य का बहुत अधिक महत्व बढ़ जाता है। ये राष्ट्र कमजोर होते हुए भी शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच स्थित होने से संघर्ष की स्थिति को कम कर देते हैं। इन राज्यों की स्थिति कमजोर और खतरे में ही रहती है। कभी-कभी इन्हें आपस में बांट लिया जाता है। हाल्स्टी के शब्दों में, "दो शक्तिशाली राज्यों को संतुलित रखने में मध्यवर्ती राज्यों का विशेष महत्व होता है।"

6. निःशस्त्रीकरण

मार्गेन्थाऊ के मतानुसार शक्ति संतुलन का एक तरीका यह है कि शक्तिशाली राष्ट्रों की शक्ति को कम कर दिया जाए। ऐसा निःशस्त्रीकरण द्वारा ही किया जा सकता है। शस्त्रों का निर्माण करके भी आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध सुरक्षा व्यवस्थाओं को शक्तिशाली बनाया जा सकता है, किन्तु वास्तविक सन्तुलन तभी स्थापित हो सकता है, जबकि शस्त्रों की अंधी दौड़ पर रोक लगा दी जाये। पामर एवं पर्किन्स के मतानुसार, "मूल रूप से शक्ति संतुलन शक्ति स्थापना की समस्या है।"

अनुकूल शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए राज्य कोई-सा भी तरीका अपनाते रहते हैं। इन तरीकों से किसी प्रयोग करने वाले राज्य की शक्ति में वृद्धि ही होती है।

जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र प्रणाली पर आधारित होगी, शक्ति-संतुलन अनिवार्य तत्व के रूप में रहेगा। चाहे इसमें कितनी ही कमियाँ विद्यमान क्यों न हों?

शक्ति संतुलन की स्थापना की आवश्यकता

शक्ति संतुलन के सिद्धांत को कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का आधार मानते हैं। वान डाइक के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के रूप में इसका उद्देश्य सुरक्षा व शांति सुरक्षा कायम रखना है। इस दृष्टि से इसका मुख्य उद्देश्य सुरक्षा व शांति है, जो राज्यों की स्वतंत्रता और विश्व शांति में सहयोग देता है।" शक्ति संतुलन स्वतंत्र राज्यों में ऐसा वितरण है, जिससे एक राष्ट्र इतना शक्तिशाली न बन जाए कि वह दूसरों पर हावी हो जाए।

शक्ति संतुलन की स्थापना क्यों आवश्यक हैं, इसके संबंध में निम्नानुसार तर्क दिये जा सकते हैं—

शक्ति संतुलन की व्यवस्था युद्धों को रोकने में सहायक है। इसने कई बार युद्धों को रोका है। फ्रेडरिक गेन्ज के अनुसार, "युद्ध प्रायः तभी उत्पन्न होता है, जबकि एक देश बहुत अधिक शक्ति प्राप्त कर लेता है और शांति की जड़ें भी शक्ति संतुलन के सिद्धांत में होती हैं। विश्व युद्ध के समय भी यदि संतुलन व्यवस्था बनी रहती है तो युद्ध नहीं छिड़ते। युद्ध तुल्यभारिता की स्थापना के लिए आवश्यक है या इससे युद्ध रोका जा सकता है, दोनों ही बातें सही हैं। शक्ति संतुलन जब तक बना रहता है, तब तक युद्ध का खतरा टलता रहता है। यह आक्रमणों की रक्षा करके राज्यों की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। यह विश्व विजय की योजनाओं को हतोत्साहित कर विश्व साम्राज्य बनने से रोकता है और गड़बड़ की स्थिति को रोकता है।

शक्ति संतुलन को सुरक्षा की प्राप्ति के लिए अपनाया जाना चाहिए। यह सिद्धांत लड़ाई के स्थान पर समझौता कराने का प्रयास करता है। कभी-कभी कई युद्ध शांति व शक्ति संतुलन के लिए जरूरी होते हैं। जोसेफ फ्रेंकल शक्ति संतुलन को मानव जाति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण नवीन कृति मानते हैं।

शक्ति संतुलन इसलिए भी जरूरी है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रक्षा हो। ओपनहीम के मतानुसार, “अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए शक्ति संतुलन एक अनिवार्य अवस्था है, चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू कराने वाली कोई केंद्रीय सत्ता नहीं है। अतः शक्ति संतुलन द्वारा ही किसी भी राष्ट्र को सर्वशक्तिमान होने से रोका जा सकता है।” अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति संतुलन के लिए भी जरूरी होता है। क्विन्सी राइट, “अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत व्यवस्था का आधार संतुलन ही है। सामूहिक सुरक्षा भी शक्ति सन्तुलन की स्थापना के उद्देश्य से की जाती है।”

शक्ति-संतुलन से बहुराज्यीय व्यवस्था बनी रहती है। बहुराज्यीय व्यवस्था में शक्ति की साम्यावस्था राष्ट्रों की अपनी बिना पूर्व सोची मर्जी के पैदा हो जाती है।

पैडल फोर्ड तथा लिंकन कहते हैं कि इसने युद्धों को रोका व हतोत्साहित किया। दूसरे राज्यों की स्वतंत्रता की रक्षा की तथा राज्यों के समूह द्वारा अनुचित प्रवाह पर रोक लगाई और इस तरह इसने बहुराज्यीय व्यवस्था को बनाये रखने में सहायता की है।

यह कहा जाता है कि संतुलन स्वाभाविक व अनिवार्य है, इसलिए इससे सारे अन्तर्राष्ट्रीय समाज का हित साधन होता है। मार्टन कैप्लन का कहना है कि किसी राष्ट्र को अधिक शक्तिशाली बनने से रोकने में प्रत्येक राष्ट्र का हित है।

दूसरे शब्दों में, राज्यों के पास इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं होता कि वे उन सन्तुलनकारी प्रक्रियाओं में शामिल हो जायें, जो अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उसी तरह छापी रहती हैं जैसे स्मिथ का ‘अदृश्य हाथ’ बाजार व्यवस्था पर हावी रहता है।

शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण

यद्यपि शस्त्र नियंत्रण तथा निःशस्त्रीकरण एक जैसे शब्द लगते हैं लेकिन इन दोनों में सुक्ष्म अन्तर है। “शस्त्र नियंत्रण में वे सभी प्रयास शामिल हैं जो शस्त्र दौड़ में कमी करके युद्ध की सम्भावनाओं को कम करते हैं या इसके क्षेत्र को सीमित करते हैं। शस्त्र नियंत्रण निःशस्त्रीकरण से अधिक व्यापक अवधारणा है। इसमें भविष्य में हथियारों का नियंत्रण भी शामिल होता है। निःशस्त्रीकरण केवल वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों के नियंत्रण से संबंधित होता है, जबकि शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादन किए जाने वाले हथियारों पर भी रोक लगाता है। आज शस्त्र नियंत्रण का प्रयोग भावी परमाणु शस्त्रों के उत्पादन को रोकने के लिए अधिक किया जाता है। शस्त्र नियंत्रण राष्ट्रों में कटौती तथा प्रतिबन्ध के मेल से बनी अवधारणा है जो निकटवर्ती अवधारणा निःशस्त्रीकरण से अधिक व्यापक है।

निःशस्त्रीकरण की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि शस्त्रस्त्र सैन्य बलों को विघटित कर देने तथा आयुधों को समाप्त कर देने पर ऐसा अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण विकसित होगा, जिसमें युद्ध के स्थान पर शान्ति के लिए महत्वपूर्ण स्थान होगा। इस प्रकार – “निःशस्त्रीकरण उस महाविनाश को रोकने का एक प्रयास है जो युद्ध के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और जिससे सम्पूर्ण मानवता की हानि होती है।” मार्गेन्थो ने निःशस्त्रीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है – “शस्त्र दौड़ को समाप्त करने के उद्देश्य से विशेष या उसी प्रकार के शस्त्रों की समाप्ति या कटौती निःशस्त्रीकरण कहलाती है।”

इस प्रकार निःशस्त्रीकरण युद्ध सामग्री तथा सैनिकों की संख्या में कटौती का

पक्षधर है, जबकि शस्त्र नियंत्रण में वे सभी उपाय शामिल हैं जो शस्त्रों के प्रयोग को सीमिति या नियमित करते हैं। निःशस्त्रीकरण इस विश्व में वर्तमान में अस्तित्ववान शस्त्रों को समाप्त करने या नष्ट करने से सरोकार रखता है। यह शस्त्र नियंत्रण से कम व्यापक है। शस्त्र नियंत्रण भविष्य में उत्पादित शस्त्रों को सीमित या प्रतिबन्धित करता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण वर्तमान में युद्ध सामग्री व सैनिकों को नियंत्रित करने तथा शस्त्र नियंत्रण शस्त्र दौड़ को नियंत्रित करने का प्रयास है। लेकिन ये दोनों अवधारणाएं एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। विद्यमान युद्ध सामग्री में कटौती तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक शस्त्रों के उत्पादन या शस्त्र दौड़ पर रोक न लगाई जाए। इन दोनों के उद्देश्य समान हैं – अंतर्राष्ट्रीय जगत में शस्त्रों पर नियंत्रण या कटौती द्वारा मानव समाज को युद्ध की विभीषिका से बचाना। इसलिए वर्तमान समय में इन दोनों का समान महत्व है। आज परमाणु आयुधों के अस्तित्व ने सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। इसलिए विश्व के सभी देश निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण की वकालत करते हैं।

निःशस्त्रीकरण के प्रकार

सामान्य एवं स्थानीय निःशस्त्रीकरण—

सामान्य निःशस्त्रीकरण शस्त्रार्थों का ऐसा परिसीमन है जिस पर अधिकांश राष्ट्र सहमत होते हैं। इसके अंतर्गत सन्धिकर्ता देशों पर गुणात्मक एवं मात्रात्मक नियंत्रण लगाए जाते हैं। इसका उदाहरण 1922 का वॉशिंगटन नौसैनिक समझौता है जिस पर हस्ताक्षर कर तत्कालिक महाशक्तियों ने नौ सैनिक क्षमताओं की होड़ की सम्भावनाओं को कम कर दिया था। स्थानीय निःशस्त्रीकरण क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सीमित होता है तथा इसमें गिने-चुने राष्ट्र ही शामिल होते हैं। इस प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य क्षेत्रीय स्थिरता व शान्ति को सुदृढ़ करना होता है। 1871 का रश बागोट समझौता इसका उदाहरण है।

मात्रात्मक एवं गुणात्मक निःशस्त्रीकरण—

मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण में सैन्य बलों तथा उपलब्ध शस्त्रस्त्रों का संख्यात्मक परिसीमन किया जाता है। इसका उद्देश्य सब प्रकार के शस्त्रों में कटौती करना है। 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन इसका प्रमुख उदाहरण है। गुणात्मक निःशस्त्रीकरण में विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों की कटौती की जाती है। इसमें केवल घातक शस्त्रों का ही परिसीमन किया जाता है। 1868 के सेंट पीटर्सबर्ग समझौते

द्वारा फटने वाली डमडम गोलियों का निषेध किया जाना इसी प्रकार के निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है। 1987 की 'मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि' भी (अमेरिका और सोवियत संघ) इसका प्रमुख कारण है।

पारम्परिक तथा आणविक निःशस्त्रीकरण—

पारम्परिक निःशस्त्रीकरण में परम्परागत शस्त्रों व सेनाओं में कटौती का नाम है। आज आणविक युग में परम्परागत शस्त्रों का अधिक महत्व नहीं रह गया है। 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि आणविक निःशस्त्रीकरण का उदाहरण है इसके अंतर्गत आणविक आयुधों के विकास व प्रसार को परिसीमित किया गया है।

पूर्ण एवं आंशिक निःशस्त्रीकरण—

पूर्ण निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों को समाप्त करने का प्रयास शामिल है। इसमें आनुपातिक कटौती के स्थान पर सम्पूर्ण कटौती शामिल होती है। इसका अर्थ है एक ऐसी विश्व व्यवस्था की स्थापना जिसमें युद्ध करने के सारे मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिए गए हों। इसके तहत समस्त सैन्य बल व सैन्य सामग्री नष्ट कर दी जाएगी। ऐसी स्थिति अभी नहीं है। यह केवल एक मृगतृष्णा ही है। आंशिक निःशस्त्रीकरण में सब प्रकार के शस्त्रों का परिसीमित नहीं किया जाता है। यह सामान्य या स्थानीय संदर्भ में सैन्य बलों तथा शस्त्रस्त्रों पर मात्रात्मक एवं गुणात्मक सीमाएं लगाता है जिससे युद्ध की विनाशकता में कमी आती है। SALT-I और SALT-II इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

अनिवार्य और ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण —

अनिवार्य निःशस्त्रीकरण युद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों द्वारा पराजित राष्ट्रों पर थोपा जाता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों के बाद जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाना इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार का निःशस्त्रीकरण भेदभावपूर्ण होता है और इससे स्थायी शान्ति की नींव नहीं पड़ सकती। इसके विपरीत ऐच्छिक निःशस्त्रीकरण को राष्ट्र स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। 1968 की अणु प्रसार निरोध सन्धि इसका उदाहरण है। इससे शान्ति की नींव मजबूत होती है। यह स्थायी होता है। इसे बाध्यकारी बल की आवश्यकता नहीं होती है।

निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण क्यों?

शस्त्रीकरण के दुष्परिणामों को संसार दो विश्व युद्धों के परिणामों के रूप में झेल चुका है। जापान ने तो परमाणु शस्त्रीकरण के व्यापक प्रभावों की जो मार

सही है, वह सर्वविदित है। आज तक मनुष्य ने शस्त्रों के बल पर जितने शान्ति के प्रयास किए हैं, वे अस्थायी ही रहे हैं। शान्ति को स्थाई रूप में कायम करने के लिए निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण का होना अति आवश्यक है। इनके अभाव में विश्व शान्ति का विचार निर्मूल सा प्रतीत होता है। निःशस्त्रीकरण विभिन्न महाशक्तियों में तनाव में कमी करके स्थायी शान्ति स्थापित करता है। आज आणविक युग में तो इसका महत्व और ज्यादा है। हम जिस वातावरण में जी रहे हैं, वह अशान्त व अविश्वास का है। शस्त्रीकरण ने मानव व प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग किया है। इसने राष्ट्रों के मध्य तनावों को जन्म दिया है। इसने तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावना को प्रबल बना दिया है। आज शान्ति, सुरक्षा व समृद्धि के लिए इसकी अत्यंत आवश्यकता है। निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण ही केवल एकमात्र ऐसा उपाय है जो विश्व शान्ति के विचार को प्रबल बना सकता है। इसलिए निःशस्त्रीकरण व शस्त्र-नियंत्रण की आवश्यकता निम्न कारणों से है—

- **निःशस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करता है—** शस्त्रीकरण से शस्त्र-निर्माण की दौड़ में वृद्धि होती है। सभी राष्ट्र अल्प सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का भंडारण करने लग जाते हैं। इससे वे दूसरे के हितों की उपेक्षा करने का अपराध कर बैठते हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। राज्यों में वैमनस्य की भावना प्रबल हो जाती है। ऐसे में सदैव युद्ध का खतरा बना रहता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए तनाव घटाना आवश्यक है और तनाव घटाने के लिए शस्त्र दौड़ तथा शस्त्र दौड़ घटाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण।
- **निःशस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग विकसित होता है—** सभी नवोदित राष्ट्रों ने अपने आर्थिक विकास ने अनेक प्रयत्न किए हैं, लेकिन उनके सारे प्रयास असफल ही रहे हैं। अपना स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व बनाए रखने के लिए इन देशों ने शस्त्र उत्पादन तथा शस्त्र-भण्डारण पर पानी की तरह पैसा बहाया है। शस्त्र दौड़ का प्रभाव विकसित देशों पर भी पड़ा है। इसलिए जब तक इन देशों का अधिकतर बजट शस्त्रों की खरीद-फरोख्त पर व्यय होगा, ये देश अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकते। इसलिए आर्थिक विकास के लिए शस्त्रों पर खर्च किए जाने वाले व्यय को रोकना अति आवश्यक है। ऐसा केवल निःशस्त्रीकरण

या शस्त्र-नियंत्रण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

- **निःशस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना में कमी आती है—** यह बात सत्य है कि आज लड़ाई दो सेनाओं के बीच न होकर, दो हथियारों के बीच होती है। जिस देश के पास पर्याप्त मात्र में अस्त्र-शस्त्र हों, वह दूसरों के लिए भी प्रेरणा स्रोत बन जाता है। शक्ति मनुष्य को पथभ्रष्ट करती है और अत्यधिक शक्तिशाली होना नाश का कारण बनता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा जापान पर बमों का प्रयोग किया जाना उसके शक्ति प्रदर्शन का ही एक अंग था। शक्ति प्रदर्शन का सबसे अच्छा अवसर युद्ध होता है। इसलिए दूसरे देश की तरह प्रत्येक देश सैन्य या शस्त्र शक्ति में वृद्धि करना चाहता है ताकि जरूरत पड़ने पर उसका प्रयोग किया जा सके। यदि किसी देश के पास शस्त्र न हों तो वह युद्ध में अधिक विनाशकारी भूमिका नहीं निभा सकता। शस्त्र दौड़ को अपने राष्ट्रीय हितों के रूप में परिभाषित करने की जो प्रवृत्ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए खतरनाक है। शस्त्रीकरण अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य को बढ़ावा देकर, अन्त में युद्ध का कारण बनता है। अतः आज सबसे अधिक आवश्यकता शस्त्र दौड़ को रोकने की है ताकि तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को धूमिल किया जा सके। इसके लिए यह जरूरी है कि अन्धाधुन्ध शस्त्र दौड़ व शक्ति प्रदर्शन से बचा जाए। ऐसी परिस्थिति में निःशस्त्रीकरण ही एक मात्र उपाय है जो हमें युद्ध की विभीषिका से बचाकर शान्ति के मार्ग की ओर ले जा सकता है।
- **निःशस्त्रीकरण जन-कल्याण का मार्ग है—** आज शस्त्र दौड़ के युग में गरीब से गरीब देश भी अपने राष्ट्रीय सुरक्षा व हितों के नाम पर शस्त्रों को खरीदने या उनका निर्माण करने पर अरबों-खरबों रुपये खर्च करते हैं। इससे वे अपनी जनता की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी न करने के दोषी बन जाते हैं। यदि आज जो राशि शस्त्र दौड़ पर खर्च हो रही है, उसे जनकल्याण के कार्यों पर खर्च कर दिए जाए तो समस्त विश्व की कायापलट हो सकती है। विश्व में बढ़ रही भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी तथा अकाल जैसी समस्याओं का सफलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। शस्त्र मनुष्य का पेट नहीं भर सकते और न तन ढांपने के लिए उसे कपड़ा दे सकते हैं। आइजहावर ने इस बात में अपना मत देते हुए कहा

है कि "प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता है, जो ठिठुरते हैं किन्तु उन्हें वस्त्र नहीं दिए जाते, एक चोरी का सूचक है।" आज सभी देश आर्थिक विकास के संसाधनों का शस्त्र साधनों पर जो खर्च कर रहे हैं, वह विश्व के भावी कल्याण के लिए शुभ संकेत नहीं है। इससे जन कल्याण का मार्ग अवरुद्ध होगा। यदि हमें जनकल्याण को बढ़ावा देना है और विश्व में सच्ची शान्ति की स्थापना करनी है तो शस्त्रों पर किए जाने वाले खर्च की दिशा आर्थिक विकास की ओर करनी होगी। आज विश्व शान्ति व समृद्धि के लिए आवश्यकता शस्त्रों की नहीं, निःशस्त्रीकरण की है। निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो विश्व से भुखमरी, गरीबी, कुपोषण जैसी भयानक समस्याओं का निदान कर सकता है। इससे बढ़कर जनकल्याण का मार्ग कोई दूसरा नहीं हो सकता।

- **शस्त्रीकरण से विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो सकता—** शस्त्रीकरण से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कटुता व वैमनस्य की भावना का जन्म होता है। एक देश दूसरे देश से अवांछित व्यवहार करना आरम्भ कर देता है। शस्त्र शक्ति से सम्पन्न देश कमजोर देशों पर अपनी नीतियां थोपकर मनमाना हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति को जन्म देता है। घृणा और द्वेष का नकारात्मक वातावरण पैदा होने लगता है। परस्पर विवाद इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनके स्थायी युद्ध में बदलने की पूर्ण सम्भावना रहती है। शान्तिपूर्ण उपायों के लिए ऐसे अशान्त व विवादपूर्ण वातावरण में कोई स्थान नहीं होता है इसलिए शस्त्रीकरण पर नियंत्रण आवश्यक बन जाता है। निरुशस्त्रीकरण ही ऐसा साधन है जो अंतर्राष्ट्रीय विवादों के स्थायी समाधान के लिए शान्त व सकारात्मक वातावरण का निर्माण करता है।
- **शस्त्रीकरण सर्वनाश का दूत है —** आज विश्व के शास्त्रस्त्रों की जो होड़ बढ़ रही है, वह विश्व शान्ति के लिए शुभ संकेत नहीं है। आज बम्ब के आविष्कार ने द्रुतगामी प्रक्षेपास्त्रों को जन्म दे दिया है। आज एक स्थान पर ही बैठकर परमाणु शस्त्रों को ले जाने वाले वाहनों का बटन दबाकर विश्व के किसी भी कोने में विनाश किया जा सकता है। जापान पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रयोग किए गए बम एकमात्र टेलर थे। आज

यदि अणुशक्ति की पूरी फिल्म देख ली जाए तो पृथ्वी पर कुछ भी नहीं बचेगा। सम्पूर्ण पृथ्वी एक अन्धकारमय आवरण से ढक जाएगी। अणु शक्ति के प्रयोग के बाद हजारों वर्षों तक जारी रहने वाला विकिरण भविष्य में जानव जाति के जन्म की सभी सम्भावनाओं को निर्मूल कर देगा। ऐसे सर्वनाश से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि शस्त्रीकरण की बजाय शस्त्र नियंत्रण व निःशस्त्रीकरण पर ध्यान दिया जाए ताकि सम्पूर्ण मानव जाति व पृथ्वी को महाविनाश से बचाया जा सके।

- **शस्त्रीकरण से अवांछित हस्तक्षेप को बढ़ावा मिलता है—** शस्त्रीकरण असुरक्षा को ऐसा वातावरण निर्मित कर देता है कि कमजोर से कमजोर देश भी शस्त्र प्राप्ति के लिए विकसित देशों या शस्त्र निर्माता धनी देशों पर निर्भर हो जाता है। शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ ने शस्त्रीकरण को जिस कदर बढ़ावा दिया, वह विश्व शान्ति के लिए सबसे घातक बना हुआ है। अस्त्र आपूर्ति के नाम पर इन महाशक्तियों ने अवांछित हस्तक्षेप का जो खेल विश्व में खेला, वह सर्वविदित है। इसी तरह की प्रवृत्ति आज भी है। अमेरिका जैसा देश पाकिस्तान के आर्थिक व राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। इससे एशिया महाद्वीप में शान्ति को सबसे बड़ा खतरा बना हुआ है। महाशक्तियों द्वारा ऐसा हस्तक्षेप अनुचित है। इससे गरीब राष्ट्रों पर अनुचित दबाव पड़ता है। इसलिए यदि गरीब देशों की शस्त्र आवश्यकताओं कम हो जाएं या समाप्त हो जाएं तो विकसित देशों को विकासशील देशों में हस्तक्षेप का अवसर नहीं मिलेगा। उनकी इस निर्भरता को निःशस्त्रीकरण के द्वारा ही कम किया जा सकता है।
- **शस्त्रीकरण नैतिकता के विपरीत है—** शस्त्रीकरण युद्ध को जन्म देता है और युद्ध सदैव अनैतिक होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर शस्त्रों का उत्पादन या संग्रह करना अनैतिक है। युद्ध राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का नैतिक साधन नहीं है। इससे मानवता की हानी होती है। नैतिकतावादी विचारकों का कहना है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी अच्छे ही होने चाहिए। इसलिए निःशस्त्रीकरण ही एक ऐसा उपाय है जो नैतिकता के अधिक निकट हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निःशस्त्रीकरण ही विश्व शान्ति की स्थापना का सच्चा आधार हो सकता है। आज विश्व में चारों तरफ आतंक का जो संतुलन है, उसे

निःशस्त्रीकरण के प्रयासों से ही कम या समाप्त किया जा सकता है। मानव जाति के अस्तित्व को आज सबसे अधिक खतरा आणविक हथियारों से है। निःशस्त्रीकरण के बिना सम्पूर्ण विनाश को नहीं रोका जा सकता है। इसलिए आज अनेक राजनेता, कूटनीतिज्ञ, दार्शनिक व वैज्ञानिक विश्व में शस्त्र-दौड़ को कम करने या समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं। लेकिन कुछ स्वार्थी व्यक्ति निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण को अधिक महत्व देते हैं। उनका कहना है कि निःशस्त्रीकरण से हजारों कारखाने बन्द हो जाएंगे और अनेक देशों में बेरोजगारी तथा भुखमरी बढ़ जाएगी। इससे तकनीकी विकास का मार्ग अवरुद्ध होगा। उनका यह तर्क अधिक अच्छा नहीं है। मानव ज्ञान का मानवता के विनाश के लिए प्रयोग करना अनुचित व अनैतिक है। आज मनुष्य जाति को विनाश से बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण की अत्यधिक आवश्यकता है। विश्व राजनेताओं द्वारा इस दिशा में सकारात्मक प्रयास करने चाहिए ताकि विश्व शान्ति का आधार मजबूत हो। तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावनाएं क्षीण हों और मानवता की सुरक्षा व समृद्धि की गारन्टी प्राप्त हो।

निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण के लिए किए गए प्रयास

निःशस्त्रीकरण का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना शस्त्रीकरण का जब से मनुष्य ने शस्त्र निर्माण और उनके की कला सीखी, साथ में उनके दुष्प्रभावों की चिन्ता भी सताने लगी। मनुष्य सदैव शास्त्रस्त्रों से भय खाता आया है और शान्ति के बारे में विचार करता रहा है। उसकी या शासन सत्ता की तरफ से निःशस्त्रीकरण के बराबर प्रयास किए जाते रहे हैं। लेकिन प्रारम्भिक चरण में उसे आंशिक सफलता भी प्राप्त नहीं हुई। निःशस्त्रीकरण का प्रथम प्रयास सैद्धान्तिक तौर पर 1648 ई. में शुरू हुआ। इस समय वैस्टफालिया की सन्धि में प्रथम बार अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण तथा सैनिक शक्ति में कटौती का अनुभव किया गया। उस समय से आज तक इसकी निरन्तर प्रगति हो रही है। निःशस्त्रीकरण के इतिहास को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है—

- प्रथम विश्व युद्ध से पहले
- प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक
- द्वितीय विश्व युद्ध से शीत युद्ध के अन्त तक

- शीत युद्ध के अन्त से वर्तमान समय तक

प्रथम विश्व युद्ध से पहले

प्रथम विश्व युद्ध से पहले 1648 की वैस्टफालिया सन्धि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम प्रयास थी। इसके बाद 1817 में रश-बेगोट समझौते द्वारा कनाडा-अमरीका सीमांत को निःसैन्य करने पर सहमति जताई। निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास था जिस पर ब्रिटेन तथा अमेरिका ने सामूहिक रूप से स्वीकार किया। 1831 के फ्रांसीसी निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव में भी असैन्यकृत विश्व की कल्पना की गई, लेकिन इसे ज्यादा महत्व नहीं दिया गया। इसके बाद 1868 की सैंट पीटर्सबर्ग सन्धि में भी फटने वाली डमडम गोलियों के प्रयोग की मनाही की गई। 1870 में ब्रिटेन भी नियोजना का प्रस्ताव रखा लेकिन इसका भी वही काल हुआ जो 1981 की फ्रांसीसी योजना का हुआ था। इसके उपरान्त 1874 में बैसेल्स प्रस्तावों में भी वायु प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग की मनाही की गई। इसे भी व्यापक समर्थन नहीं मिल सका।

19 वीं सदी के अन्त में 1899 के प्रथम हेग सम्मेलन में मानव कल्याण व विश्व शान्ति के लिए शस्त्रार्थों में कटौती करने पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में हवा में से मार करने वाले अस्त्रों तथा विस्फोटकों को दागने पर प्रतिबंध लगाया गया और बेहोश करने वाली गैस का प्रयोग भी वर्जित किया गया। इसके बाद 1907 में सामूहिक निःशस्त्रीकरण का सार्थक प्रयास द्वितीय हेग सम्मेलन में किया गया। इस सम्मेलन में सैनिक व्यय में कटौती का प्रस्ताव लाया गया लेकिन। इन दोनों सम्मेलनों ने युद्ध के संचालन को विनिमय करने तथा युद्ध की क्रूरताएं कम करने के प्रयासों की नींव अवश्य डाल दी। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत ने विश्व शान्ति के सारे उपायों को समाप्त कर दिया और 1914 से पूर्व निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास कल्पना की वस्तु बनकर रह गए।

प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक

1919 में प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते ही विश्व शांति के प्रयास तेज हो गए। इस युद्ध में प्रयोग किए गए हथियारों के प्रभावों पर व्यापक विचार विमर्श हुआ। भविष्य में ऐसे किसी भी युद्ध की सम्भावना को रोकने के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना पर विचार किया गया और विश्व शांति बनाए रखने का उत्तरदायित्व इसे ही सौंपा गया। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के अन्दर व इससे बाहर दोनों तरफ निःशस्त्रीकरण के प्रयास किए गए।

राष्ट्र संघ द्वारा किए गए प्रस्ताव— राष्ट्र संघ के संविधान में धारा 8 के अंतर्गत शान्ति स्थापना के लिए राष्ट्रीय शास्त्रस्त्रों को राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुरूप कम करने के लिए निःशस्त्रीकरण समझौतों का प्रयास करने का प्रावधान किया गया। लीग की सदस्यता ग्रहण करने वाले देशों को शस्त्र नियंत्रण को स्वीकार करने की शर्त स्वीकार करना अनिवार्य था। 28 जून 1919 की वर्साय संधि को स्वीकार करने वाले देशों ने राष्ट्र संघ के सदस्यों के रूप में अपनी सैनिक शक्ति में कमी लाने का प्रथम व्यावहारिक प्रयास किया। इसके अंतर्गत विजेता राष्ट्रों द्वारा हारे हुए देशों का अनिवार्य निःशस्त्रीकरण किया। राष्ट्रसंघ ने अपनी निःशस्त्रीकरण की कार्य योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित प्रयास किए—

1. **स्थायी परामर्शदाता आयोग:—** राष्ट्रसंघ ने निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए जनवरी, 1920 में स्थायी परामर्शदाता आयोग की स्थापना की। विशुद्ध सैनिक संगठन होने के नाते यह निःशस्त्रीकरण की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर सका। इसलिए नवम्बर, 1920 में इसमें 6 असैनिक सदस्यों को शामिल करके इसे अस्थायी मिश्रित आयोग में बदल दिया गया। अतः इससे निःशस्त्रीकरण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई।

जेनेवा प्रोटोकॉल — इसका उद्देश्य मध्यस्थता द्वारा सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण के प्रयास करना था। 15 जून, 1925 को प्रोटोकॉल का अनुसरण करते हुए सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने पर विचार विमर्श हुआ लेकिन ग्रेट ब्रिटेन ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रयास राष्ट्रसंघ द्वारा जेनेवा प्रोटोकॉल व्यवस्था के तहत किया गया निःशस्त्रीकरण का प्रयास असफल हो गया।

सज्जीकरण आयोग — 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बन्द कर देने पर इसकी जगह राष्ट्र संघ ने सज्जीकरण आयोग की स्थापना की। इसका कार्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए तैयारी करना था। इस आयोग ने 1930 तक निःशस्त्रीकरण मतभेदों को दूर करने में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल नहीं की। 1930 में व्यापक विचार विमर्श के बाद इस आयोग ने अपनी कार्य योजना का ढांचा पेश किया। इस योजना की मुख्य बातें थी:

- रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों पर रोक लगाई जाए।
- स्थल युद्ध की सामग्री का मात्रात्मक तथा गुणात्मक परिसीमन किया जाए।

- अनिवार्य सैनिक सेवा को निश्चित सीमा तक कम किया जाए।
- हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर सीमित किया जाए।
- थायी निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की जाए।

जेनेवा सम्मेलन – सज्जीकरण आयोग की प्रमुख बातों को ही ध्यान में रखकर 13 फरवरी, 1932 को राष्ट्र संघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में हुआ। इसमें 61 राष्ट्रों के 232 प्रतिनिधियों ने अपने 337 प्रस्तावों सहित भाग लिया। यद्यपि यह सम्मेलन निः शस्त्रीकरण की दिशा में एक व्यवस्थित प्रयास था लेकिन मंचूरिया संकट की काली छाया भी इस पर पड़ी। इस सम्मेलन में इन बातों पर विचार हुआ।

- आक्रमणकारी को कठोरतापूर्वक सजा देना तथा पंचनिर्णय को अनिवार्य बनाना।
- विवादों को मध्यस्थता द्वारा हल करना।
- राष्ट्र संघ की सुरक्षात्मक शक्ति का विकास अर्थात् दण्डात्मक सेना का निर्माण।

लेकिन परस्पर सहयोग की भवना के अभाव के कारण यह सम्मेलन असफल रहा। इस सम्मेलन में प्रत्येक देश अपनी-अपनी धाक जमाने की फिराक में था। जर्मनी ने शस्त्रस्त्रों में समान कटौती का विचार रखा। उसने कहा कि वर्साय की सन्धि के अनुसार जो अन्याय उसके साथ हुआ था उसे समाप्त किया जाए। अब उसे भी अन्य यूरोपीय शक्तियों के समान ही सैन्य शक्ति का विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। जब उसकी बात को मानने से इंकार कर दिया गया तो उसने राष्ट्र संघ के इस निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से दूर होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार राष्ट्र संघ के सदस्य देशों के भेदभावपूर्ण व्यवहार व गलत नीतियों के कारण निःशस्त्रीकरण के इस व्यवस्थित प्रयास को गहरा आघात पहुंचा।

राष्ट्र संघ के बाहर किए गए प्रयास

1919 से 1939 तक विभिन्न देशों ने विश्व शांति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से आपस में अनेक वार्ताएं की जिससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला। इस दौरान किए गए निःशस्त्रीकरण के प्रयास हैं—

वाशिंगटन नौ सैनिक सम्मेलन – यह सम्मेलन 12 नवम्बर, 1921 से 6

फरवरी, 1922 तक वाशिंगटन (अमेरिका) में हुआ। इस सम्मेलन में सात सन्धियां की गई। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी राष्ट्र संघ का सदस्य न होते हुए भी ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, हॉलैंड, पुर्तगाल, चीन व जापान के साथ भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य विभिन्न देशों में नौ सेना के विस्तार के लिए अंतर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक प्रतिस्पर्धा को रोकना था। इस सम्मेलन में 'नौसैनिक प्रतिस्पर्धा परिसीमन सन्धि पर सभी देशों ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि में नवीन विशाल नौ सैनिक पोत बनाने। अड़े स्थापित करने, वर्तमान नौ सैनिक अड़ों की नए सिरे से किला बन्दी करने पर सहमति हुई। लेकिन इस सम्मेलन में पनडुब्बियों। छोटे युद्धपोतों, विध्वंसकों के सम्बन्ध में कोई आम राय नहीं बन सकी। फ्रांस ने इस सन्धि का समर्थन नहीं किया। इसलिए इसका व्यापारिक रूप नहीं बन सका और अंतर्राष्ट्रीय नौ-सैनिक शक्तियों में निर्णय प्रतिस्पर्धा जारी रही।

जेनेवा नौ-सेना सम्मेलन- अमेरिका की पहल पर 1927 में एक नवीन नौ सैनिक समझौता करने हेतु जेनेवा में सम्मेलन बुलाया गया। फ्रांस व इटली इसमें शामिल नहीं हुए। अमेरिका, जापान व ब्रिटेन के मध्य विचार विमर्श तक ही यह सम्मेलन सिमटकर रह गया। इन तीनों देशों में भी आपस में आप सहमति नहीं बन सकी। अतः यह सम्मेलन भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा।

लन्दन नौ-सेना सम्मेलन- 1927 के जेनेवा सम्मेलन के असफल रहने पर नवीन प्रयास के रूप में प्रथम लन्दन नौसेना सम्मेलन 21 जनवरी 1930 को प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में नौ सैनिक शक्ति को समतुल्यता के आधार पर घटाने के लिए सभी देशों को कहा गया। इटली ने फ्रांस के साथ, जापान ने ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ समतुल्यता शक्ति को घटाने पर विचार किया। इसमें हुए सन्धि के कारण अमेरिका तथा जापान ने ब्रिटेन के साथ मिलकर क्रूजों, विध्वंसकों तथा पनडुब्बियों में भार वाहक क्षमता को सीमित करना स्वीकार किया। फ्रांस तथा इटली ने इस सन्धि पर अपनी असहमति व्यक्त की। इस सन्धि की प्रमुख बातें थी:-

- इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन ने 5, अमेरिका ने 3 तथा जापान ने 1 बड़ा युद्ध पोत नष्ट करने पर सहमति जताई।
- पांच महाशक्तियों ने 1936 तक नए युद्धपोतों के निर्माण पर रोक लगा दी।

- सामान्य युद्ध पोतों पर 5.1 इंच से अधिक तथा बड़े युद्ध पोतों पर 6.1 इंच से अधिक व्यास की तोपें न लगाने पर सहमति हुई।

इसमें पनडुब्बियों का आकार 2000 टन तक घटाने पर समझौता हुआ। लेकिन इस सन्धि का एक दोष यह था कि इसकी एक धारा में हस्ताक्षर करने वाले देशों को यह अधिकार दिया गया था कि यदि अंतर्राष्ट्रीय स्थिति खराब हो जाती है तो सन्धिकर्ता देश फिर से शस्त्रस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। यही प्रावधान इसकी असफलता का सबसे बड़ा कारण था।

द्वितीय लंदन नौ-सेना सम्मेलन— इसका प्रयास 1935 में अन्तिम रूप से साकार हुआ। यह सम्मेलन 9 दिसम्बर, 1935 से आरम्भ होकर 25 मार्च 1936 तक चला। इस सम्मेलन में सभी महाशक्तियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर जल सेना रखने की मांग की। प्रथम सम्मेलन की तरह यह भी परस्पर विरोधी मांगों का अखाड़ा मात्र बन गया। इटली ने भी फ्रांस के साथ नौ सैनिक शक्ति की समतुल्यता की मांग की। इस तरह जापान और इटली ने इसमें कोई सहयोग नहीं दिया। इस सन्धि पर केवल अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने ही हस्ताक्षर किए। लेकिन जापान और इटली के सहयोग के बिना यह सम्मेलन अधिक सफल नहीं रहा। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने केवल भविष्य में नौ-सेना निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमों की सूचनाओं का परस्पर आदान-प्रदान करने का निर्णय किया।

इस प्रकार इस दौरान किए गए सन्धियां व समझौते किसी बाध्यकारी शक्ति के अभाव के कारण असफलता का ताज बनते गए और विश्व के अनेक देशों में परस्पर वैमनस्य की भावना बढ़ती रही। सभी महाशक्तियों ने शस्त्र दौड़ को जारी रखा। अन्त में शस्त्र प्रतिस्पर्धा ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कटुता पैदा कर दी और इसकी परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में हुई।

द्वितीय विश्वयुद्ध से शीत-युद्ध के अन्त तक

शस्त्र दौड़ ने द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इसके परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध से भी अधिक भयानक थे। इस युद्ध में प्रथम बार आणविक प्रहार किए गए। इससे जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासाकी आणविक हथियारों का निशाने बने। इस युद्ध की भयानक विनाश लीला ने विश्व को नए सिरे से शान्ति के लिए विचार करने को विवश कर दिया। इसलिए विश्व के अनेक देशों ने निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उपाय तलाशने शुरू कर दिए। यद्यपि शीत

युद्ध की उग्रता ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपायों को ठेस अवश्य पहुंचाई, लेकिन इस दौरान अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास भी किये गए ताकि तृतीय विश्व युद्ध या शीत युद्ध को वास्तविक युद्ध में परिवर्तित होने पर रोक लग सके। 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक निःशस्त्रीकरण के लिए किए गए प्रयास हैं— द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद निर्मित अंतर्राष्ट्रीय संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) ने निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियंत्रण की जिम्मेदारी अपने प्रसिद्ध अंग सुरक्षा या महासभा को सौंप दी। UNO के चार्टर की धारा 2, 11, 26, 47 में निःशस्त्रीकरण का उल्लेख किया गया है।

अणु शक्ति आयोग— जनवरी 1946 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा एक अणु शक्ति आयोग की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। इस आयोग का उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जो राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत रखने को तैयार हो जाए ताकि परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किया जा सके। सुरक्षा परिषद् ने इस आयोग को निर्देश दिया कि वह इन विषयों पर प्रस्ताव तैयार करे—

- अणु शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करना सुनिश्चित बनाना।
- अणु शक्ति के वैज्ञानिक ज्ञान का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विभिन्न देशों में आदान-प्रदान।
- जन-संहारक अणु आयुधों को बहिष्कृत करना।

प्रभावशाली निरीक्षण व्यवस्था का ढांचा तैयार करना ताकि उससे कोई बच न सके। परम्परागत आयोग की प्रथम बैठक 14 जून 1946 को न्यूयॉर्क में हुई। अमेरिका ने इस बैठक में परमाणु कार्यक्रम पर अपना एकाधिकार बनाए रखने के उद्देश्य से एक ऐसी योजना रखी जो अधिक अन्यायपूर्ण थी। इसलिए सोवियत संघ ने अमेरिका की इस 'बरुच योजना' को अस्वीकार कर दिया। सोवियत संघ ने अणु बमों के संग्रह को नष्ट करने पर जोर दिया। उसने साथ में यह भी कहा अणु शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रभावशाली उपाय किए जाए। अमेरिका और सोवियत संघ ने अलग-अलग सुझाव पेश करके इस योजना को खटाई में डाल दिया। इसलिए निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी सफल नहीं हो सका।

परम्परागत-शस्त्र आयोग:— इसकी स्थापना फरवरी, 1947 में की गई। सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य इस आयोग में शामिल थे। इस आयोग का उद्देश्य

सेना के शस्त्रों पर नियंत्रण रखना तथा उनमें कमी करने का प्रयास तलाशना था। इस आयोग में सोवियत संघ ने सुझाव दिया कि अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों का सर्वप्रथम निःशस्त्रीकरण किया जाए। लेकिन अमेरिका का कहना था कि शस्त्रों को कम करने पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। सोवियत संघ ने कहा कि प्रत्येक देश को अपनी सेना में 1/3 कटौती करनी चाहिए और परमाणु हथियारों के निर्माण पर रोक लगानी चाहिए तथा जितने परमाणु शस्त्र बन चुके हैं, उन्हें तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए। इस तरह परस्पर विरोधी विचारधारा व शीत-युद्ध के चलते अमेरिका और सोवियत संघ ने निःशस्त्रीकरण के इस प्रयास को भी धराशायी कर दिया।

संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग:- जनवरी, 1952 में परम्परागत शस्त्र आयोग तथा अणु शक्ति आयोग दोनों को मिलाकर संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना कर दी गई। इसे सुरक्षा परिषद् के अधीन रखा गया। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों (अणु आयुधों सहित) व सेनाओं के नियमन तथा दूसरी समिति को राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों सम्बन्धि सूचनाओं पर विचार-विमर्श का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस आयोग में सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों के साथ-साथ कनाडा को भी शामिल किया गया। इस प्रकार इसकी सदस्य संख्या 12 हो गई। इस आयोग ने अपने व्यापक क्षेत्रधिकार का प्रयोग करते हुए – सैन्य बल के आधार व शस्त्रस्त्रों की संख्या में कटौती, व्यापक निःशस्त्रीकरण सन्धियां, वास्तविक शस्त्र संख्या आदि पर सुझाव दिए। सोवियत संघ ने इस बात पर जोर दिया कि सभी देशों को अपनी सेनाओं में 1/3 कटौती करनी चाहिए। आणविक आयुधों पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए तथा आणविक ज्ञान का हस्तांतरण करना चाहिए। लेकिन अमेरिका ने आणविक ज्ञान के आदान-प्रदान के उपरान्त ही निःशस्त्रीकरण के उपाय करने पर जोर दिया। इस प्रकार परस्पर मतभेदों के कारण इस आयोग की कार्यप्रणाली पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा और निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी अपने पूर्ववर्ती प्रयासों की तरह निरर्थक सिद्ध हुआ।

शान्ति हेतु अणु योजना:- 1953 में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने शान्ति हेतु परमाणु योजना प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने परमाणु ऊर्जा का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करने की बात कही। लेकिन उन्होंने परमाणु हथियारों के भविष्य के बारे में कुछ नहीं कहा। इसी बात पर आशंकित होकर सोवियत संघ ने कहा कि परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग करने के लिए यह

जरूरी है कि वर्तमान परमाणु आयुधों को नष्ट कर दिया जाए। अमेरिका ने सोवियत संघ का यह सुझाव स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार शान्ति की यह योजना भी असफल रही।

जेनेवा सम्मेलन:- जुलाई, 1955 में स्विटजरलैण्ड के जेनेवा नगर में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजहावर ने खुली आकाश योजना प्रस्तुत की। इस सम्मेलन में सोवियत संघ, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 'मुक्त आकाश योजना' प्रस्तुत करके अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ परस्पर सैनिक बजट, वर्तमान शक्ति एवं उसके विकास की सम्भावनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान तथा परस्पर जांच व निरीक्षण करने का रास्ता साफ कर दिया। लेकिन सोवियत संघ ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया और कहा कि हथियारों की जांच व निरीक्षण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण अभिकरण की स्थापना की जाए। उसने आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबंध तथा परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने की आवश्यकता पर भी बल दिया। अमेरिका ने सोवियत संघ की मांगों का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप यह योजना भी निष्क्रिय रही।

निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक:- 14 जून, 1957 को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक हुई। इसमें रूस ने त्रिसूत्री फार्मूला पेश किया गया (क) दो वर्ष के लिए परमाणु परीक्षण रोक दिए जाएं (ख) परीक्षण की रोक को प्रभावी बनाने हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाए। (ग) समझौते के क्रियान्वयन के लिए एक नियंत्रण कक्ष स्थापित किया जाए। परन्तु सोवियत संघ के यह प्रस्ताव पश्चिमी शक्तियों को स्वीकार्य नहीं हुए। इसलिए यह प्रयास भी बेकार सिद्ध हुआ।

निःशस्त्रीकरण की बुल्गानिन योजना:- फरवरी, 1958 में सोवियत संघ के प्रधानमंत्री ने एक निःशस्त्रीकरण योजना का ढांचा पेश किया जिसे बुल्गानिन योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना के प्रमुख प्रस्ताव थे—

- सभी तरह के परमाणु व तापनाभिकीय शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाई जाए।
- अमेरिका, ब्रिटेन और रूस परमाणु शस्त्रों को नष्ट करें।
- जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को वापिस बुलाया जाए।

- आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के बारे में समझौता किया जाए।
- नाटो तथा वार्सा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता किया जाए।
- अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों ने सोवियत संघ की योजना को एक प्रचार बताया। इस प्रकार यह योजना भी फलौप हो गई।

रापाकी योजना:— मार्च 1958 में पोलैण्ड के विदेश मन्त्री ने 'रापाकी योजना' प्रस्तुत की जिसमें यूरोप की सुरक्षा व शान्ति के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को परमाणु शक्ति विहीन करने का सुझाव दिया गया। इस योजना के तहत इन देशों में आणविक शस्त्रों के निर्माण, संग्रह व उपयोग पर रोक लगाना प्रस्तावित हुआ। सोवियत संघ ने तो इसका समर्थन कर दिया, लेकिन अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार 'रापाकी योजना' ने भी असफलता का ताज पहन लिया।

पूर्ण सर्वमान्य निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव:— 18 सितम्बर, 1959 को सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री खुश्चचे ने निःशस्त्रीकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में इस प्रस्ताव में कहा कि चार वर्ष के अन्दर सभी राष्ट्रों का इस प्रकार निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि युद्ध के सभी साधन समाप्त हो जाएं। इसके साथ-साथ एक आंशिक निःशस्त्रीकरण योजना भी प्रस्तुत की गई जिसमें नाटो व वार्सा पैक्ट के देशों में एक अनाक्रमण सन्धि करने, आक्रमण के समय परस्पर सहायता करने, यूरोप के देशों से विदेशी सेना हटाने, मध्य यूरोप को परमाणु विहीन क्षेत्र बनाने पर विचार किया गया। लेकिन शीत-युद्ध की उग्रता के कारण दोनों महाशक्तियों में इस योजना पर आम राय नहीं बन सकी। इसलिए यह योजना भी असफल रही।

दस राष्ट्रीय जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन:— यह सम्मेलन 1960 में जेनेवा में हुआ और इसमें 10 राष्ट्रों ने भाग लिया, ये राष्ट्र थे:— ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, इटली, बुल्गारिया, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत संघ, तथा चेकोस्लोवाकिया। इसमें 5 नाटो के तथा 5 वार्सा सन्धि के देश थे। इसमें प्रथम स्तर की वार्ता में समस्त पक्षों के बीच आणविक व प्रक्षेपास्त्र निःशस्त्रीकरण एवं पारम्परिक सैन्य बल के परिसीमन पर व्यापक चर्चा हुई। द्वितीय स्तर की वार्ता में तीन परमाणु शक्तियों, अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन के बीच परमाणु शस्त्र-नियंत्रण, परिसीमत तथा आणविक परीक्षण निषेध पर विचार-विमर्श हुआ। परन्तु परस्पर कोई सर्वमान्य समझौता न होने के कारण यह सम्मेलन भी निष्क्रिय

हो गया।

अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि:- यह निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम था। अमेरिका के राष्ट्रपति कैंनेडी तथा सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री खुश्चेव के प्रयासों से निःशस्त्रीकरण का कुछ विकास हुआ। 15 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा अमेरिका ने इस सीमित परमाणु सन्धि पर हस्ताक्षर किए और यह सन्धि 10 अक्तूबर, 1963 को लागू हुई तो इस पर 100 देश हस्ताक्षर कर चुके थे। इस सन्धि के द्वारा भूगर्भीय – परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र तथा परमाणु परीक्षण करने पर पाबन्दी लगा दी गई। इसकी प्रमुख धाराएं थी—

- प्रथम धारा में तीनों देशों द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने क्षेत्रधिकार में वायुमण्डल आकाश तथा समुद्र में किसी तरह का आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।
- इसकी दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था की गई।
- तीसरी धारा में तीनों देशों की सहमति पर नए देश के इसमें शामिल होने का प्रावधान किया गया।
- इसकी चौथी धारा में सन्धि से अलग होने का प्रावधान था।

इसकी अन्तिम धारा में सन्धि के अंग्रजी तथा रूसी भाषा के दोनों रूपों को समान मान्यता दी गई। इस सन्धि का प्रमुख दोष यह था कि भूगर्भ-परीक्षणों पर यह सन्धि चुप थी। फिर भी धीरे-धीरे 108 देशों ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया और यह एक व्यापक कार्यक्रम बन गई। इसे निःशस्त्रीकरण की एक अच्छी शुरुआत व युगान्तरकारी घटना कहा जा सकता है। क्योंकि इस सन्धि ने निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में तेजी ला दी और सभी देश निःशस्त्रीकरण का महत्व समझने लग गए।

निःशस्त्रीकरण आयोग सम्मेलन:- 1963 की समिति परमाणु प्रतिबंध सन्धि ने निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम को बढ़ावा देने के लिए 21 जनवरी, 1964 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक हुई। इसमें कहा गया कि सामरिक महत्व के शस्त्रस्त्रों के विकास को रोका जाए, उनका उत्पादन बन्द किया जाएय यूरोप तथा अन्य देशों में अणु-रहित क्षेत्रों का विकास किया जाए, अनाक्रमण समझौते हों, बमवर्षक विमान नष्ट किए जाएं तथा भूमिगत परमाणु परीक्षण भी रोके

जाएं। लेकिन महाशक्तियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की भावना के चलते इन प्रस्तावों को भी अस्वीकार कर दिया गया।

बाह्य आकाशी सन्धि:— 1966 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए बाहरी अन्तरिक्ष प्रयोग सम्बन्धी एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने बाहरी आकाश में परमाणु शस्त्रों को भेजना निषिद्ध मान लिया। इस सन्धि की प्रमुख बातें थीं—

- अन्तरिक्ष अन्वेषण का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किया जाएगा।
- अन्तरिक्ष की गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को केन्द्र बनाया जाए।
- अन्तरिक्ष कार्यक्रम द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाया जाए।
- इस सन्धि को दोनों महाशक्तियों ने मान लिया और आकाश में परीक्षण करने की योजना को नकारने वाली बात स्वीकार कर ली।

परमाणु अप्रसार-सन्धि:— सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच 1968 में यह सन्धि हुई। इस सन्धि का उद्देश्य विश्व को बढ़ते परमाणु शस्त्रों के खतरे से बचाना था। इसलिए 24 अप्रैल, 1968 को महासभा का एक विशेष अधिवेशन इस सन्धि पर विचार करने के लिए बुलाया गया। पहली बार दोनों महाशक्तियों ने इस सन्धि को सर्वसहमति से स्वीकार किया। परमाणु अस्त्र-अप्रसार सन्धि (Nuclear Non-Proliferation Treaty) की प्रमुख विशेषताएं थीं—

- परमाणु शक्ति सम्पन्न देश गैर परमाणु शक्ति वाले देशों को परमाणु शस्त्र बनाने वाली परमाणु तकनीक का रहस्य नहीं देंगे।
- परमाणु शक्ति का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाली तकनीक का ज्ञान हस्तांतरित किया जा सकता है।
- परमाणु शक्ति से हीन राष्ट्रों को अपने परमाणु संस्थानों के निरीक्षण का अधिकार अंतर्राष्ट्रीय शांति आयोग को देना स्वीकार किया।

सम्भावित परमाणु शक्ति वाले देश परमाणु ऊर्जा का प्रयोग अपने आर्थिक विकास तथा अन्य असैनिक कार्यों के लिए कर सकते हैं। अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद अनेक देशों ने हस्ताक्षर कर दिए। लेकिन भारत, अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार

कर दिया क्योंकि इन देशों ने इस संधि को पक्षपातपूर्ण माना। यह सन्धि निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य वास्तविक हल नहीं थी। इस सन्धि में न तो नए परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर रोक लगाई गई थी और न ही परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु अनुसंधान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था थी। यह संधि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के हितों की पोषक थी। इसका अन्तिम लक्ष्य गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को परमाणु शक्ति बनने से रोकना था। फ्रांस व चीन ने भी इस सन्धि को अपने राष्ट्रीय हितों के खिलाफ मानते हुए हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। इसी तरह कुछ अन्य देशों ने भी इसके पक्षपातपूर्ण स्वरूप के कारण अमान्य कर दिया। इस प्रकार अनेक देशों ने इसे अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा 'परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार' की भावना का पोषक कहा। अतः निःशस्त्रीकरण का यह प्रयास भी पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण का कोई सर्वमान्य उपाय प्रस्तुत नहीं कर सका।

समुद्री तल सन्धि:- 7 दिसम्बर, 1970 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि महासमुद्रों को परमाणु शस्त्रों से मुक्त रखा गया। इस प्रस्ताव को असली जामा पहनाने के लिए 11 फरवरी, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ व ब्रिटेन ने क्रमशः वॉशिंगटन, मास्को तथा लन्दन में हस्ताक्षर किए। इस सन्धि द्वारा यह प्रावधान किया गया कि किसी भी राष्ट्र के समुद्र तट से 19 किलोमीटर तक के क्षेत्रीय जल को छोड़कर महासागरों के किसी भी अन्य हिस्से में परमाणु शस्त्र व उनके वाहक प्रक्षेपास्त्र तैनात न किए जाएं। किन्तु इसमें परमाणु शस्त्रों से लदी हुई पनडुब्बियों व युद्धपोतों को मुक्त रखा गया। इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्ता देशों ने समुद्री तल, महासागरीय तल तथा उपधरती पर किसी भी तरह के जनसंहारक शस्त्रों व परमाणु शस्त्रों के विस्तार पर रोक लगाने की बात स्वीकार की। और यह सन्धि 18 मई, 1972 को लागू हो गई। लेकिन परमाणु शस्त्रों से लैस पनडुब्बियों व युद्धपोतों को इस सन्धि की व्यवस्थाओं से मुक्त रखने के कारण यह महत्वहीन हो गई।

जैविक शस्त्र समझौता:- 10 अप्रैल, 1972 को अमेरिका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ ने जीवाणु शस्त्रों के उत्पादन, संग्रह तथा उनके प्रयोग पर रोक लगाने के लिए आपस में समझौता किया। इस समझौते के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि वे ऐसे अस्त्रों का न तो निर्माण करेंगे और न ही प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। यह समझौता 26 मार्च, 1975 को लागू हो गया। इस समझौते के अनुसार नशीले पदार्थों, शस्त्रों, उपकरणों तथा वाहकों को नष्ट करने या उन्हें

शांतिपूर्ण उद्देश्य की तरफ मोड़ने का निर्णय लिया गया।

सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते (SALT- I, II) अमेरिका और सोवियत संघ के बीच 3 जुलाई, 1974 को प्रथम दस वर्षीया आणविक आयु। परिसीमन समझौता हुआ और इसे 31 मार्च, 1976 को लागू करने की बात पर सहमति हुई। इसके अनुसार 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परिक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नई सीमा लगाने का निर्णय हुआ। शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोटों को इसकी परिधि से बाहर रखा गया। इसका उद्देश्य परमाणु युद्ध की सम्भावना को कम करना था। इसके बाद 1979 में सोवियत संघ तथा अमेरिका ने दूसरा साल्ट समझौता किया। इस समझौते का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था लेकिन अफगानिस्तान संकट ने इसे हानि पहुंचाई और इसका अनुमोदन स्थगित हो गया। यह समझौता 28 नवम्बर 1980 को साल्ट पर नवीन वार्ता शुरू होने पर नए सिरे से लागू होने के कगार पर पहुंच गया। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने अपने सामरिक शस्त्रों को 5 वर्षों तक सीमित करने पर विचार किया ताकि निःशस्त्रीकरण को प्रभावी बनाया जा सके।

ब्रेह्नेव योजना:— फरवरी, 1981 में सोवियत नेता ब्रेह्नेव ने अपनी 8 सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। उसने कहा कि सोवियत संघ अमेरिका के साथ सार्थक शस्त्र नियंत्रण वार्ताओं का इच्छुक है। उसने नवीन पनडुब्बियों के विस्तार तथा आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों के विकास को रोकने पर अपनी सहमति दर्शाई। इस योजना का सर्वत्र स्वागत किया गया। लेकिन अमेरिका ने कोई उत्साहवर्धन प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसलिए यह योजना प्रभावी कार्यक्रम नहीं बन सकी।

चार-सूत्री रीगन प्रस्ताव:— अमेरिका ने ब्रेह्नेव योजना के प्रत्युत्तर में अपना चार-सूत्री कार्यक्रम (फरवरी, 1981 में) प्रस्तुत किया। इसमें अमेरिका ने कहा कि सोवियत संघ अपने एस.एस. 5 व एस.एस. 20 प्रक्षेपास्त्र नष्ट कर दे तथा अमेरिका पर्शिग 2 तथा समकक्ष थल आधारित प्रक्षेपास्त्र तैनात न करे, सामरिक शस्त्रों में भारी कटौती करने के लिए वार्ताएं करने लिए तैयार हो जाए। लेकिन सोवियत संघ ने इसे प्रचारकारी हथकंडा बताकर अस्वीकार कर दिया।

रीगन निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव:— मई, 1982 में अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों को सीमित करने के लिए सोवियत संघ को कुछ सुझाव दिए। रीगन प्रस्तावों में कहा गया कि दोनों देशों को परस्पर परमाणु प्रक्षेपास्त्र कम करने चाहिए और साथ ही भूमि तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों में कमी की जानी चाहिए। इसमें परस्पर 1/3 कटौती का प्रस्ताव पेश किया गया। लेकिन सोवियत

संघ इसका सकारात्मक उत्तर न दिए जाने के कारण यह प्रस्ताव भी निरस्त हो गया।

जेनेवा वार्ता का नया दौर:- 1983 में जेनेवा में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच START वार्ता के असफल रहने पर 1985 में फिर से नए सिरे से वार्ता करने पर सहमति हुई। दोनों देश फिर से शस्त्र दौड़ रोकने पर सहमत हो गए। सोवियत संघ अमेरिका के साथ START, MRF और INF वार्ताएं एक साथ शुरू करने पर सहमत हो गया। लेकिन अमेरिका ने स्पष्ट कहा कि वह न तो अपने स्टारवार कार्यक्रम को समाप्त करेगा और न उसमें ढील देगा। इस तरफ परस्पर आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच यह वार्ता 23 अप्रैल, 1985 को स्थगित हो गई।

निःशस्त्रीकरण सम्मेलन नई दिल्ली:- 1985 में 6 देशों अजर्नटाइना, ग्रीस, स्वीडन, मास्को, तनजानिया तथा भारत का सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें परमाणु अस्त्र बनाने वाले देशों से आग्रह किया गया कि वे सभी परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाएं और परमाणु शस्त्र दौड़ को समाप्त करें। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता:- नवम्बर 1985 में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन तथा सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने विश्व शांति बनाए रखने के लिए अंतरिक्ष में शस्त्र-दौड़ पर नियंत्रण करने तथा धरती पर इसे समाप्त करने के लक्ष्य पर जोर दिया। लेकिन यह वार्ता बिना किसी ठोस परिणाम के समाप्त हो गई।

मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि:- 8 दिसम्बर, 1987 को अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा इस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। INF सन्धि के नाम से प्रसिद्ध इस सन्धि में यह व्यवस्था की गई कि दोनों पक्ष 500 से 5000 किमी. तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को तैनाती स्थानों से हटा लेंगे या नष्ट कर देंगे। इसमें अमेरिका द्वारा एक परमाणु बम युक्त 364 प्रक्षेपास्त्र तथा सोवियत संघ द्वारा 3-3 परमाणु बमों से युक्त 500 प्रक्षेपास्त्र हटाने पर सहमति हुई। इस सन्धि के अनुसार सोवियत संघ के एस. एस. 12 तथा एस. एस. 22 एवं अमेरिका के पर्शिंग 2 प्रक्षेपास्त्र महासागरों पर दागकर नष्ट करने का निर्णय हुआ।

इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए परस्पर निरीक्षण की सुविधा देने पर सहमत हो गए। इस सन्धि का सभी देशों ने स्वागत किया और निर्धारित अवधि में दोनों देशों ने अपने प्रक्षेपास्त्रों को

नष्ट भी कर दिया। इस प्रकार यह सन्धि निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम था। इससे तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना कम हो गई।

गोर्बाच्योव की घोषणा:— 7 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपनी सेनाओं में कटौती तथा पूर्वी यूरोप में अपने परम्परागत शस्त्रों में कटौती की एक पक्षीय घोषणा की। यह सोवियत संघ की तरफ से निःशस्त्रीकरण के लिए उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से लेकर शीत युद्ध की समाप्ति तक निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रयास किए गए। इनमें से कुछ प्रयास सफल भी रहे। लेकिन कोई ऐसा प्रभावी कार्यक्रम तैयार नहीं हो सका जो तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना को पूर्णतया नष्ट कर सके। 1989 के अन्त में सोवियत संघ के विघटन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नए सिरे से स्थापित करने के विचार को प्रबल बना दिया। इस समय अनेक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र जन्म ले चुके थे। अमेरिका को सोवियत संघ की चुनौती से अब अधिक सावधान रहने की आवश्यकता नहीं रही। अब चीन व भारत परमाणु शक्ति सम्पन्न एशियाई देशों के रूप में उभरने लगे। नई चुनौती का सामना करने के लिए अमेरिका ने सोवियत संघ के साथ अपना निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम जारी रखना आवश्यक समझा और शीत युद्ध के बाद भी निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की बागडोर अमेरिका के ही हाथ में रही।

शीतयुद्ध के अंत से वर्तमान समय तक

वॉशिंगटन शिखर-सम्मेलन:— सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव तथा अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के बीच शीत युद्ध के अन्त के बाद यह पहला सम्मेलन जून 1990 में वॉशिंगटन में हुआ। इसमें रसायनिक शस्त्रों सहित शस्त्र नियंत्रण पर एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ। दोनों देशों ने अपने-अपने शस्त्र भंडारों में से 5000 टन कम करने तथा हजारों टन विध्वंसक सामग्री नष्ट करने पर सहमति जताई। इसकी अवधि 1992 से 2000 तक रखी गई। इसमें रासायनिक शस्त्रों पर तुरन्त रोक लगा दी गई। इस सम्मेलन में 'सामरिक शस्त्र कटौती सन्धि' (START) को संचालित करने वाले कुछ नियमों पर भी समझौता हुआ। इस प्रकार शीत युद्ध के बाद यह सम्मेलन निःशस्त्रीकरण का प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था।

पेरिस वार्ता:— 19 नवम्बर, 1990 को वारसा तथा नाटो के देशों ने

परम्परागत शस्त्रों में कटौती करने के उद्देश्य से पेरिस में एक सम्मेलन बुलाया। इसमें टैंकों, तोपों, सैनिक सशस्त्र वाहनों को नष्ट करने का निर्णय लिया गया। इसमें टैंकों की 20000, सैनिक सशस्त्र वाहन 30000, लड़ाकू हवाई जहाज 6800 तथा हेलीकॉप्टर 2000 की संख्या तक निश्चित की गई। इस वार्ता ने एक ऐसा वातावरण तैयार किया कि निःशस्त्रीकरण के प्रयास पहले की तुलना में अब अधिक सफल दिखाई देने लगे।

सामरिक शस्त्रों में कटौती की ऐतिहासिक सन्धि (START-I):— सामरिक शस्त्रों पर कटौती की प्रक्रिया जो SALT-II के दौरान निष्क्रिय हो गई थी। अब START-I के माध्यम से पुनर्जीवित हो उठी। इस सन्धि द्वारा सोवियत संघ तथा अमेरिका ने अपने अपने परमाणु शस्त्रों में से 30 प्रतिशत कटौती करने पर सहमति प्रकट की। सोवियत संघ ने 11000 से 7000 तथा अमेरिका ने 12000 से 9000 तक शस्त्र कटौती करना स्वीकार किया। यह पहला औपचारिक प्रयास था जिसके अंतर्गत दोनों महाशक्तियों ने स्वेच्छा से घातक हथियारों में कटौती करना स्वीकार किया।

जॉर्ज बुश की निःशस्त्रीकरण घोषणा:— 28 सितम्बर, 1991 को अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण की घोषणा की। उसने अपनी इस योजना में कहा।

- जहाजों और पनडुब्बियों से छोड़ी जाने वाली सभी समुद्री परमाणु मिसाइलें समाप्त हों।
- कम दूरी तक मारक क्षमता रखने वाले सभी सामरिक परमाणु शस्त्रों को नष्ट करना।
- बी-52 तथा अन्य बम वर्षकों को निष्क्रिय करना।

स्टार्ट सन्धि को क्रियान्वित करना। इस प्रकार अमेरिका ने अपने एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण के इस कदम द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आशावान बना दिया कि अब तीसरे विश्व युद्ध का कोई खतरा नहीं है। उसने अपने परमाणु हथियारों को नष्ट करने की एक तरफा घोषणा करके सम्पूर्ण विश्व को चौंका दिया। उसके इस कदम ने सोवियत संघ को भी शस्त्र कटौती के लिए प्रेरित किया।

गोर्बच्च्योव की घोषणा:— अमेरिका के द्वारा शस्त्र कटौती के सकारात्मक प्रयास का सोवियत संघ ने भी सकारात्मक उत्तर दिया। उसने अपनी सभी

परमाणु मिसाइलों को जल्दी हटाने की घोषणा की। उसने अपनी सशस्त्र सेनाओं में 200000 तक कटौती करने तथा 2000 परमाणु अस्त्रों को कम करने की घोषणा की। उसने कहा कि—

(1) जंगी जहाजों और बहुउद्देशीय पनडुब्बियों से सभी सामरिक शस्त्रों को दूर कर लिया जाएगा।

(2) परमाणु शस्त्रों का भंडारण कम किया जाएगा।

(3) सामरिक महत्व के खतरनाक शस्त्रों में भी कटौती की जाएगी। इस प्रकार सोवियत संघ की इस घोषणा को सभी देशों ने सराहा। इसलिए यह घोषणा स्वैच्छिक निःशस्त्रीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रयास थी।

स्टार्ट- 2 सन्धि – 3 जनवरी, 1993 को अमेरिका और सोवियत संघ के बीच निरुशस्त्रीकरण के लिए स्टार्ट-2 सन्धि पर हस्ताक्षर किए। यह 1991 की START-I सन्धि के विकास का अगला प्रयास थी। इस सन्धि के द्वारा दोनों देश अपने शस्त्रों में व्यापक कटौती करने पर सहमत हो गए। 2/3 कटौती के तहत दोनों देश अपने परमाणु शस्त्रों को 6500 तक रखने पर सहमत हो गए। इसमें समुद्र तल के नीचे वाली विध्वंसक मिसाइलों की संख्या 1700 से 1750 तक के लाने पर सहमति हुई। बमवर्षक जहाजों द्वारा ले जाने वाले परमाणु शस्त्रों की संख्या 750 से 1250 तक, भारी ICMBs पर शस्त्रों की संख्या 656 तक करने पर समझौता हुआ। इस तरह START-II सन्धि INF तथा START-I से भी अधिक व्यापक थी। इससे निरुशस्त्रीकरण के प्रयासों को काफी लाभ हुआ।

रासायनिक हथियार निषेध सन्धि:- 13 अप्रैल, 1993 को 160 देशों ने पेरिस में इस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए और यह 29 अप्रैल, 1997 से लागू हो गई। इस सन्धि के प्रारूप में रासायनिक शस्त्रों की खोज, विकास, भण्डारण व हस्तांतरण पर पूर्ण रोक की व्यवस्था की गई है। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने 15 वर्ष तक अपने रासायनिक हथियारों को नष्ट करने की बात पर सहमति जताई है। रासायनिक शस्त्रों को नष्ट करने की दिशा में अमेरिका तथा रूस के सहयोग के बिना यह सन्धि अधिक प्रभावी नहीं हुई है। आज भी चोरी-छिपे अनेक देश रासायनिक हथियारों का निर्माण कर रहे हैं।

अमेरिका तथा उत्तरी कोरिया के बीच परमाणु समझौता- 21 अक्तूबर 1994 को अमेरिका और उत्तर कोरिया ने आपस में एक परमाणु समझौता किया। इस समझौते के अनुसार उत्तरी कोरिया अपने वर्तमान परमाणु कार्यक्रम को

स्थगित करने तथा अपने परमाणु संस्थानों की जांच कराने पर सहमत हो गया। इस समझौते ने विश्व शांति के विचार को मजबूत आधार प्रदान किया। इससे निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम की प्रक्रिया में तेजी आई।

व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Comprehensive Test Ban Treaty) – CTBT के नाम से प्रसिद्ध यह ऐतिहासिक सन्धि 11 सितम्बर, 1998 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा भारी बहुमत से पारित कर दी गई। इस सन्धि के तहत परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाई गई है। भेदभावपूर्ण होने के कारण भारत ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया और इसके प्रारूप में कुछ संशोधन करने की अपनी मांग दोहराई। पाकिस्तान ने भी कहा कि जब तक भारत इसे स्वीकार नहीं करेगा, वह भी CTBT पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। वीटो पावर प्राप्त पांचों देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए और अन्य देशों पर भी इस पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया। भारत का इससे चिन्तित होना स्वाभाविक था क्योंकि यह सन्धि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के परमाणु संवर्धन पर कोई रोक नहीं लगाती। यदि इस सन्धि को सर्वसहमति का आधार प्राप्त हो जाएगा तो विकसित परमाणु शक्ति सम्पन्न देश विकासशील देशों पर अपना परमाणु साम्राज्यवाद थोपने में सक्षम हो सकते हैं। इसकी समीक्षा करने के लिए वियना सम्मेलन (1999) में भारत ने भाग नहीं लिया। इस समय तक 154 देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए थे और 45 ने इसकी पुष्टि कर दी थी। लेकिन अभी भी कुछ परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा इसकी पुष्टि होना शेष है। भारत की चिन्ता स्वाभाविक है। यदि इसको मान लिया जाए तो परमाणु विहीन देश परमाणु शस्त्र नहीं बना सकेंगे और न ही परमाणु तकनीक का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग कर सकेंगे। इसलिए पक्षपातपूर्ण होने के कारण विकासशील परमाणु शक्ति सम्पन्न देश भी इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने में आनाकानी कर रहे हैं। इसलिए इसकी विश्वसनीयता व प्रभावशीलता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है।

परमाणु कचरा सन्धि:— 1997 में परमाणु कचरे के बारे में कुछ नियमों का निर्धारण करने के लिए इस सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। भारत ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया लेकिन दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान तथा न्यूजीलैंड ने इसका विरोध किया। इस सन्धि के अनुसार जिस देश में परमाणु विस्फोट होगा, वही देश परमाणु कचरे का निपटान करेगा।

परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव:— संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 8 दिसम्बर,

1998 को परमाणु निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव पास किया। इसमें परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों से अणु-युद्ध की सम्भवनाओं को कम करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया गया। इसमें परमाणु अप्रसार को बढ़ावा देने पर बल दिया गया। इसमें परमाणु परीक्षण न करने तथा परमाणु तकनीकी के विकास पर रोक लगाने की बात भी कही गई। इस प्रस्ताव में मौजूदा परमाणु शस्त्रों के भण्डारों पर चिन्ता व्यक्त की गई। 12. मई 2000 में सम्पन्न हुए परमाणु अप्रसार सन्धि समीक्षा सम्मेलन में भी पांच परमाणु शक्ति सम्पन्न वीटो पावर वाले देशों ने परमाणु शस्त्रों में कटौती की घोषणा की। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को अधिक बल मिला है। 13. मई, 2002 में अमेरिका और रूस के बीच हुई परमाणु शस्त्र कटौती संधि भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस सन्धि के अनुसार 2012 तक परमाणु शस्त्रों में कटौती का लक्ष्य पूरा किया जाना है।

इस प्रकार राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने वाले बराबर प्रयास किए जाते रहे हैं। शीतयुद्ध में शिथिलता के दौरान तो निःशस्त्रीकरण के प्रयास अधिक प्रभावी रहे हैं। लेकिन आज भी विश्व के अनेक देशों में अन्धाधुन्ध शस्त्र प्रतिस्पर्धा का दौर जारी है। आज परमाणु शस्त्रों के युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को असुरक्षित महसूस करता है और आर्थिक साधनों के अभावों के बावजूद भी परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की पंक्ति में शामिल होना चाहता है। आज परस्पर असुरक्षा के वातावरण में प्रत्येक राष्ट्र शस्त्र-दौड़ में आगे रहना चाहता है। दो विश्वयुद्धों ने शस्त्र दौड़ को अत्यधिक बढ़ाया है। तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना ने इसमें अप्रत्याशित वृद्धि की है।

विकासशील देश पारस्परिक मतभेदों का शिकार होने के कारण क्षेत्रीय शान्ति को सबसे बड़ी चुनौती दे रहे हैं। आज आतंक का संतुलन है कोई भी अपने को सुरक्षित नहीं मानता है। प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों की घातक मारक क्षमता से अच्छी तरह परिचित है, फिर भी वह शस्त्रदौड़ में पीछे नहीं हटना चाहता। विश्व जनमत के निःशस्त्रीकरण के पक्ष में होने के बावजूद भी शस्त्र-प्रतिस्पर्धा शस्त्र नियंत्रण या निःशस्त्रीकरण पर हावी है। परमाणु युद्ध का भय अनियन्त्रित शस्त्र दौड़ को बढ़ावा दे रहा है। आज विश्व के विकसित व परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों को निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम में अपनी सकारात्मक व पक्षपात विहीन भूमिका निभाने की आवश्यकता है ताकि भय मुक्त विश्व समाज की स्थापना की जा सके और आतंक के संतुलन के स्थान पर शांति का वातावरण हो।

व्यापक परमाणु परीक्षण संधि

हाल ही में व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि संगठन (Comprehensive Nuclear Test Ban Treaty Organization- CTBTO) ने भारत को ब्रिज में पर्यवेक्षक सदस्य बनने के लिये आमंत्रित किया है।

प्रमुख बिंदु

व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि संगठन (CTBTO) के कार्यकारी सचिव ने कहा कि CTBTO भारत से व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (Comprehensive Nuclear Test Ban Treaty & CTBT) को अनुमोदित करने की उम्मीद नहीं कर रहा लेकिन भारत को पर्यवेक्षक के रूप में शामिल होने का अवसर देना एक अच्छी शुरुआत हो सकती है।

एक पर्यवेक्षक होने के नाते भारत को अंतर्राष्ट्रीय निगरानी प्रणाली (International Monitoring System) के डेटा तक पहुँच प्राप्त होगी।

एक पर्यवेक्षक होने के नाते CTBT के संबंध में भारत की स्थिति नहीं बदलेगी बल्कि अलग-अलग प्रकार के आँकड़ें एवं सूचनाएँ प्राप्त होंगी।

अंतर्राष्ट्रीय निगरानी प्रणाली

अंतर्राष्ट्रीय निगरानी प्रणाली एक नेटवर्क है जो फिलहाल अपूर्ण है किंतु पूर्ण हो जाने पर 89 देशों में स्थित 337 सुविधाओं (321 निगरानी स्टेशन और 16 रेडियोन्यूक्लाइड लैब) से युक्त होगा।

यह प्रणाली भूकंपीय विज्ञान, हाइड्रोएकॉस्टिक्स, इन्फ्रासाउंड और रेडियोन्यूक्लाइड तकनीक का उपयोग करके छोटे परमाणु विस्फोटों का भी पता लगा सकती है।

जाहिर है कि भूकंप की निगरानी हेतु और रेडियो आइसोटोप के फैलाव के बाद डेटा के इस स्तर की उपलब्धता आवश्यक है।

ज्ञातव्य है कि चीन ने अंतर्राष्ट्रीय निगरानी प्रणाली को डेटा भेजना शुरू कर दिया है।

परमाणु अप्रसार संधि

परमाणु अप्रसार संधि परमाणु हथियारों का विस्तार रोकने और परमाणु

टेक्नोलॉजी के शांतिपूर्ण ढंग से इस्तेमाल को बढ़ावा देने के अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों का एक हिस्सा है। इस संधि की घोषणा 1970 में की गई थी।

अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ के 191 सदस्य देश इसके पक्ष में हैं। इस पर हस्ताक्षर करने वाले देश भविष्य में परमाणु हथियार विकसित नहीं कर सकते।

हालाँकि, वे शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिये परमाणु ऊर्जा का इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन इसकी निगरानी अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (International Atomic Energy Agency-IAEA) के पर्यवेक्षक करेंगे।

परमाणु आयुधों के प्रसार को रोकने और पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रति भारत का दृष्टिकोण प्रारंभ से ही स्पष्ट रहा है और इसे संयुक्त राष्ट्र संघ सहित विभिन्न मंचों पर समय-समय पर स्पष्ट किया जाता रहा है।

NPT: परमाणु निःशस्त्रीकरण की दिशा में परमाणु अप्रसार संधि (Non-Proliferation Treaty) एक महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है, लेकिन भारत इस अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार करता रहा है।

इसके लिये भारत के निम्नलिखित दो तर्क हैं:-

इस संधि में इस बात की कोई व्यवस्था नहीं की गई है कि चीन की परमाणु शक्ति से भारत की सुरक्षा किस प्रकार सुनिश्चित हो सकेगी।

इस संधि पर हस्ताक्षर करने का अर्थ यह है कि भारत अपने विकसित परमाणु अनुसंधान के आधार पर परमाणु शक्ति का शांतिपूर्ण उपयोग नहीं कर सकता।

यह संधि 18 मई, 1974 को तब सामने आई, जब भारत ने शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिये अपना पहला भूमिगत परमाणु परीक्षण किया।

भारत मानता है कि 1 जुलाई, 1968 को हस्ताक्षरित तथा 5 मार्च, 1970 से लागू परमाणु अप्रसार संधि भेदभावपूर्ण है, यह असमानता पर आधारित, एकपक्षीय और अपूर्ण है।

भारत का मानना है कि परमाणु आयुधों के प्रसार को रोकने और पूर्ण निःशस्त्रीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिये क्षेत्रीय नहीं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किये जाने चाहिये।

परमाणु अप्रसार संधि का मौजूदा ढाँचा भेदभावपूर्ण है और परमाणु शक्तियों

के हितों का पोषण करता है। यह परमाणु खतरे के साए तले जी रहे भारत जैसे देशों के हितों की अनदेखी करता है।

भारत के अनुसार वे कारण आज भी बने हुए हैं जिनकी वजह से भारत ने अब तक इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं।

CTBT: नई व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (Comprehensive Test Ban Treaty-CTBT) पर भी हस्ताक्षर करने से भारत ने स्पष्ट इनकार कर दिया है। भारत के अनुसार यह संधि अपने वर्तमान स्वरूप में भेदभावपूर्ण, खामियों से भरी व नितांत अपूर्ण है।

जुलाई 2017 में संयुक्त राष्ट्र ने परमाणु हथियारों के निषेध से संबंधित इस नई संधि को अपनाया था, जो परमाणु हथियारों के उपयोग, उत्पादन, हस्तांतरण, अधिग्रहण, संग्रहण व तैनाती को अवैध करार देती है।

भारत अपने स्पष्टीकरण में कह चुका था कि वह इस बात से सहमत नहीं है कि यह नई व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि परमाणु निःशस्त्रीकरण पर समग्र व्यवस्था कायम करने में सफल हो पाएगी।

भारत ने इस संधि की सार्वभौमिक नाभिकीय निःशस्त्रीकरण की एक क्रमिक प्रक्रिया के रूप में कल्पना की थी, जिससे एक समयबद्ध रूपरेखा के भीतर सभी नाभिकीय हथियारों के पूर्णतः नष्ट होने का मार्ग प्रशस्त हो सके।

भारत का यह भी मानना है कि इस व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि का उद्देश्य मात्र परमाणु विस्फोटों के परीक्षण को बंद करना नहीं था, अपितु परमाणु हथियारों के गुणात्मक विकास और उनके परिष्करण को विस्फोट अथवा अन्य माध्यमों से रोकना था।

इससे भारत के व्यापक राष्ट्रीय व सुरक्षा हितों की पुष्टि नहीं होती और उसके रुख से स्पष्ट है कि वह अपने राष्ट्रीय सुरक्षा हितों में अपने एटमी विकल्प को खुला रखेगा।

परमाणु अप्रसार संधि 1968

परमाणु अप्रसार संधि को एनपीटी के नाम से जाना जाता है। इसका उद्देश्य विश्व भर में परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने के साथ-साथ परमाणु परीक्षण पर अंकुश लगाना है। 1 जुलाई 1968 से इस समझौते पर हस्ताक्षर होना शुरू

हुआ। अभी इस संधि पर हस्ताक्षर कर चुके देशों की संख्या १६० है। जिसमें पांच के पास आण्विक हथियार हैं। ये देश हैं— अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन सिर्फ पांच संप्रभुता संपन्न देश इसके सदस्य नहीं हैं, ये हैं— भारत, इजरायल, पाकिस्तान, द.सुदान और उत्तरी कोरिया। एनपीटी के तहत भारत को परमाणु संपन्न देश की मान्यता नहीं दी गई है। जो इसके दोहरे मापदंड को प्रदर्शित करती है। इस संधि का प्रस्ताव आयरलैंड ने रखा था और सबसे पहले हस्ताक्षर करने वाला राष्ट्र है फिनलैंड। इस संधि के तहत परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र उसे ही माना गया है जिसने १ जनवरी १९६७ से पहले परमाणु हथियारों का निर्माण और परीक्षण कर लिया हो। इस आधार पर ही भारत को यह दर्जा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नहीं प्राप्त है। क्योंकि भारत ने पहला परमाणु परीक्षण १९७४ में किया था। उत्तरी कोरिया ने इस संधि पर हस्ताक्षर किये, इसका उलंघन किया और फिर इससे बाहर आ गया।

सन्धि के मुख्य स्तम्भ

परमाणु अप्रसार परमाणु अस्त्र संपन्न राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को इसके निर्माण की तकनीक नहीं देंगे।

वैश्वीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध

वैश्वीकरण का सम्बन्ध मुख्यतः विश्व बाजारीकरण से लगाया जाता है जो व्यापार अवसरों के विस्तार का द्योतक है। वैश्वीकरण में विश्व बाजारों के मध्य पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न होती है क्योंकि व्यापार देश की सीमाओं में न बँधकर लाभ की दशाओं का दोहन करने की दशा में अग्रसर होता है।

अतः इस उद्देश्य से विश्व का सूचना एवं परिवहन साधनों के माध्यम से एकाकार हो जाना वैश्वीकरण है। इस प्रकार की व्यवस्थाओं में खुली अर्थव्यवस्थाओं का जन्म होता है, जो प्रतिबन्धों से मुक्त तथा जिसमें स्वतन्त्र व्यापार होता है। इस प्रकार वैश्वीकरण में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों या नियमों का स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है।

वैश्वीकरण का अर्थ

वैश्वीकरण का अभिप्राय किसी देश की अर्थव्यवस्था को विश्व के अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ने से है जिससे व्यावसायिक क्रियाओं का विश्व स्तर पर विस्तार हो सके तथा देशों की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता का विकास हो। इस प्रकार वैश्वीकरण को अन्तर्राष्ट्रीयकरण के रूप में भी देखा जाता है। अन्य शब्दों में, वैश्वीकरण का अर्थ देश की अर्थव्यवस्था को विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करना है।

वैश्वीकरण की परिभाषाएं

वैश्वीकरण को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित

किया है—

ऑस्कर लेन्जे के अनुसार— “आधुनिक समय में अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास का भविष्य मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर निर्भर करता है।”

प्रो. दीपक नैयर के अनुसार— “आर्थिक क्रियाओं का किसी देश की राजनैतिक सीमाओं के बाहर तक विस्तार करने को वैश्वीकरण कहते हैं।”

प्रो. एन. वाघुल के शब्दों में— “वैश्वीकरण शब्द बाजार क्षेत्र के तीव्र गति से विस्तार को प्रकट करता है, जो विश्वव्यापी पहुँच रखता है।”

जॉन नैसविट एवं पोर्टसिया अबुर्डिन के अनुसार— “इसे ऐसे विश्व के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसमें सभी देशों का व्यापार किसी एक देश की ओर गतिमान हो रहा हो। इसमें सम्पूर्ण विश्व एक अर्थव्यवस्था है तथा एक बाजार है।”

अतः उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि “वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें एक देश की अर्थव्यवस्था को सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत किया जाता है ताकि सम्पूर्ण विश्व एक ही अर्थव्यवस्था और एक ही बाजार के रूप में कार्य कर सके और जिसमें सीमाविहीन अन्तर्राष्ट्रीयकरण व्यवहारों के लिए व्यक्तियों, पूँजी, तकनीक माल, सूचना तथा ज्ञान का पारस्परिक विनिमय सुलभ हो सके। वैश्वीकरण को सार्वभौमीकरण, भूमण्डलीयकरण और अन्तर्राष्ट्रीय आदि नामों से भी पुकारा जाता है।”

आलोचनाओं

हालांकि इसे अक्सर आर्थिक तर्कसंगतता की ऊँचाई का प्रतिनिधित्व करने के रूप में प्रचारित किया जाता है, लेकिन वैश्वीकरण को एक बहुत ही अंधकारमय पक्ष के रूप में भी चित्रित किया गया है। आलोचक बार-बार इस बात की ओर इशारा करते हैं कि आर्थिक शक्ति द्वारा संचालित वैश्वीकरण का समकालीन रूप स्पष्ट रूप से पश्चिमी संस्कृति और निगमों के आधिपत्य को बढ़ावा देता है; अमीर देशों में नौकरियों और समुदायों को खतरे में डालता है और गरीब देशों में सस्ते श्रम का शोषण करता है; पर्यावरण के लिए खतरे बढ़ाता है; और राष्ट्रीय राजनीतिक संस्थानों को उनके नियंत्रण से परे आर्थिक परिवर्तन की शक्तियों के अधीन करके लोकतंत्र और सामाजिक स्थिरता की नींव को कमजोर करता है। इसके अलावा, जैसा कि निबंधों की एक हालिया मात्रा (होल्म और सोरेंसन, 1995) ने उजागर किया है, वैश्वीकरण अपनी प्रक्रियाओं और इसके प्रभावों दोनों में

असमान है। यह संकेन्द्रण और वंचना पैदा करता है, जो कुल मिलाकर एक तेजी से अच्छी तरह से परिभाषित वैश्विक शक्ति संरचना का निर्माण करते हैं।

क्लाउड एके, एक प्रमुख अफ्रीकी आलोचनात्मक विचारक, ने इस संबंध में तर्क दिया है कि:—

आर्थिक ताकतें दुनिया को एक अर्थव्यवस्था और कुछ हद तक एक राजनीतिक समाज में बदल रही हैं। राष्ट्र अपनी आर्थिक शक्ति के अनुसार वैश्विक शासन में भाग लेते हैं, जो उनके अधिकारों के साथ-साथ व्यापक है। वैश्विक व्यवस्था दुनिया के आर्थिक रूप से सबसे शक्तिशाली देशों के एक अनौपचारिक मंत्रिमंडल द्वारा शासित है; इसका कानून बाजार का तर्क है, और इस नई व्यवस्था में स्थिति आर्थिक प्रदर्शन का एक कार्य है (एके, 1995: 26)।

आलोचकों का यह भी तर्क है कि वैश्वीकरण की एक नव-उदारवादी विचारधारा है जो इस प्रक्रिया को "सामान्य" बनाने का काम करती है — इसे स्वाभाविक, अपरिहार्य और लाभकारी बनाने के लिए। इस प्रकार, जबकि यह स्पष्ट रूप से बड़े बहुराष्ट्रीय और वैश्विक निगमों के विशेष हित में है कि वे उत्पादन के सबसे सस्ते कारकों, सबसे अनुकूल विनियामक वातावरण और सबसे आकर्षक बाजारों तक पहुँच की तलाश में ग्रह के चारों ओर धन, कारखानों और वस्तुओं को ले जाने के लिए स्वतंत्र हों, वैश्वीकरण की विचारधारा इस विश्वास को बढ़ावा देती है कि मानवता और यहाँ तक कि पृथ्वी के हितों की भी सबसे अच्छी सेवा होगी यदि विश्व बाजारों को "नैतिक, नैतिक, सामाजिक या पर्यावरणीय विचारों से मुक्त छोड़ दिया जाए।" (रिची, 1996)

वैश्वीकरण की विचारधारा और व्यवहार दोनों के एक मामले के अध्ययन के रूप में उत्तरी अमेरिकी व्यापार संघ के विश्लेषण में, अर्थशास्त्री रॉबर्ट मैकएवन ने संयुक्त राज्य अमेरिका और मैक्सिको से डेटा प्रस्तुत किया है, जो व्यापार समझौते द्वारा उत्पन्न "सामाजिक विफलताओं" को प्रमाणित करता है: अधिक आय असमानता, पर्यावरणीय क्षति और लोकतांत्रिक नियंत्रण में गिरावट: आम तौर पर वैश्वीकरण और विशेष रूप से NAFTA की सफलता से उत्पन्न होने वाली एकमात्र सामाजिक विफलता आय असमानता नहीं है। वैश्वीकरण की सफलता के साथ पर्यावरण विनाश निश्चित रूप से बढ़ गया है। पूँजी की अधिक गतिशीलता किसी भी एक राजनीतिक इकाई के नागरिकों के लिए संगठित होना और प्रदूषणकारी फर्मों पर नियम लागू करने के लिए अपनी सरकार का उपयोग करना

अधिक से अधिक कठिन बना देती है (मैकएवन्, 1994: 2)।

अंत में, उनका तर्क है कि वैश्वीकरण ने राजनीति और सार्वजनिक जीवन की गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव डाला है, क्योंकि यह सरकारों की अपनी अर्थव्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करने की शक्तियों पर प्रतिबंध लगाता है, और इस प्रकार "लोगों की अपने आर्थिक जीवन पर राजनीतिक नियंत्रण करने की शक्ति को सीमित करता है" (मैकइवान, 1994: 2)।

हालाँकि, किसी को इस आलोचना को गंभीरता से नहीं लेना चाहिए, लेकिन यह दर्शाता है कि क्या गलत हो सकता है क्योंकि निगमों और पूंजी ने बहुत बड़े पैमाने पर आगे बढ़ने और संचालन करने के साधन हासिल कर लिए हैं। इसके अलावा, यह चिंता की भावना को व्यक्त करता है कि एक संस्थागत संरचना के रूप में राष्ट्र-राज्य इन नए विकासों से प्रभावी रूप से निपट नहीं सकता है, और वास्तव में, अपनी प्राथमिकताओं और नीतियों को उनसे बहुत प्रभावित पाता है, यदि निर्देशित नहीं करता है, तो उनसे प्रभावित होता है। फिर सवाल उठता है कि निजी वित्तीय और वाणिज्यिक हितों की वैश्विक पहुंच के खिलाफ सार्वजनिक हित को कौन स्पष्ट करेगा और उसका बचाव करेगा, जब उत्तरार्द्ध बहुत आगे बढ़ जाता है? उदाहरण के लिए, आर्थिक सोच के सबसे अधिक अहस्तक्षेपवादी लोगों को छोड़कर सभी का तर्क है कि सरकारों को जनता की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए जब बाजार विफल हो जाते हैं, यानी जब वे अब स्वतंत्र और प्रतिस्पर्धी नहीं होते हैं। हालांकि, विभिन्न बहुपक्षीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों के माध्यम से वैश्विक स्तर पर ऐसी रणनीति को लागू करने के प्रयासों ने बहुत कम हासिल किया है। नतीजतन, दुनिया के बाजार प्रमुख क्षेत्रों में तेजी से केंद्रित हो गए हैं।

इसके अलावा, जबकि महंगे और अक्षम सरकारी विनियामक ढाँचों को कम करने के लिए एक मामला बनाया जा सकता है, सीमाओं के पार लागू होने वाले पर्याप्त विनियामक मानकों की कमी बहुराष्ट्रीय फर्मों को कम-विनियमित परिचालन वातावरण चुनने के लिए एक प्रोत्साहन प्रदान करती है, और विदेशी निवेश चाहने वाले देशों को "सबसे निचले स्तर की दौड़" में शामिल करती है, यह देखने के लिए कि कौन सबसे अधिक "स्वतंत्र" और सबसे कम विनियमित व्यावसायिक वातावरण प्रदान कर सकता है (द इकोनॉमिस्ट, जुलाई 1995: 114)। संक्षेप में, वैश्वीकरण के नकारात्मक चरित्र चित्रण में कम से कम "सत्य का एक दाना" प्रतीत होता है, और यह निर्णय तब और भी अधिक प्रशंसनीय हो जाता है जब वैश्वीकरण

का मूल्यांकन सामाजिक संघर्ष के "इंजन" के रूप में किया जाता है।

वैश्वीकरण की आवश्यकता

वैश्वीकरण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से हैं—

(1) वैश्वीकरण एकरूपता एवं समरूपता की एक प्रक्रिया है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक हो जाता है।

(2) अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास के लिए वैश्वीकरण की नीति अपनायी गयी।

(3) एक राष्ट्र की सीमा से बाहर अन्य राष्ट्रों में वस्तुओं एवं सेवाओं का लेन-देन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय नियमों या बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ राष्ट्र के उद्योगों की सम्बद्धता वैश्वीकरण है।

(4) विश्व के विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना के साथ बाजार तन्त्र की माँग एवं पूर्ति की सापेक्षित शक्तियों के द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रय-विक्रय कर अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं।

(5) इस नीति के अन्तर्गत 34 उद्योगों को सम्मिलित किया गया। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में 51 प्रतिशत तक के विदेशी पूँजी विनियोग को अनुमति प्रदान की गयी।

(6) वैश्वीकरण की नीति को विदेशी उन्नत तकनीकी से निर्मित वस्तुओं तथा राष्ट्र की औद्योगिक संरचना के लिए आवश्यक बिजली, कोयला, पेट्रोलियम जैसे—मूलभूत क्षेत्रों तक सीमित रखा गया था।

(7) जिन मामलों में मशीनों के लिए विदेशी पूँजी उपलब्ध होगी, उन्हें स्वतः उद्योग लगाने की अनुमति मिल जायेगी।

(8) विदेशी मुद्रा नियमन कानून में भी संशोधन किया गया।

(9) वर्तमान में अन्य निजी कम्पनियाँ भी विदेशों में इकाइयाँ स्थापित कर औद्योगिक विश्व व्यापीकरण की ओर अग्रसर हैं।

(10) वीडियोकॉन, ओनिडा, गोदरेज एवं बी. पी. एल. जैसी कम्पनियाँ, जापान, जर्मनी एवं इटली की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का सहयोग लेकर उन्नत किस्म की वस्तुओं का उत्पादन कर अत्यधिक लाभ अर्जित कर रही हैं।

(11) इस नीति के अन्तर्गत रु.2 करोड़ या कुल पूँजी के 25 प्रतिशत से कम की उत्पादक मशीनें बिना पूर्वानुमति के आयात की जा सकेंगी।

(12) प्रवासी भारतीय को पूँजी निवेश के लिए अनेक प्रोत्साहन तथा सुविधाएँ दी गयीं। भारतीय कम्पनियों को यूरो निर्गम जारी करने की अनुमति प्रदान की गयी है।

(13) वैश्वीकरण की दिशा में सरकारी क्षेत्र की उर्वरक कम्पनी कृषक भारतीय कोऑपरेटिव लि. को अमेरिका के फ्लोरिडा स्थित एक फास्फेट उर्वरक कारखाने को अधिग्रहण कर संचालित करने की अनुमति सरकार ने प्रदान की है।

वैश्वीकरण की विशेषताएँ या लक्षण

वैश्वीकरण की प्रमुख लक्षण या विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) इसमें, विश्व स्तर पर व्यापारिक बाधाओं को न्यूनतम करने के प्रयत्न किये जाते हैं जिससे दो राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं तथा सेवाओं का सुलभ एवं निर्बाध गति से आवागमन हो सके।

(2) वैश्वीकरण औद्योगिक संगठनों के विकसित स्वरूप को जन्म देता है।

(3) विकसित राष्ट्र, अपने विशाल कोषों को व्याज दर के लाभ में विकासशील राष्ट्रों में विनियोजित करना अधिक पसन्द करते हैं ताकि उन्हें उन्नत दर का लाभ प्राप्त हो सके।

(4) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में ऐसा वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच सूचना एवं प्रौद्योगिकी का स्वतन्त्र प्रवाह होकर उन्नत तकनीकी का लाभ सभी राष्ट्र उठा सकें।

(5) पूँजी व्यावसायिक संगठनों की आत्मा होती है। वैश्वीकरण के अन्तर्गत विभिन्न अनुबन्ध करने वाले राष्ट्रों के मध्य पूँजी का स्वतन्त्र प्रवाह रहता है, जिससे पूँजी का निर्माण सम्भव हो सके।

(6) वैश्वीकरण बौद्धिक श्रम एवं सम्पदा का भी विदोहन करता है अर्थात् एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्रों में श्रमिक वर्ग एवं कार्मिक वर्ग का स्वतन्त्र रूप से आवागमन सम्भव होता है।

(7) वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवहारों पर लगे

प्रतिबन्धों पर ढील धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

(8) वैश्वीकरण का प्रतिफल सम्पूर्ण विश्व में संसाधनों का आवंटन एवं प्रयोग बाजार की आवश्यकता तथा प्राथमिकता के आधार पर प्राप्त होने लगता है जिससे अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों को भौतिक तथा मानवीय संसाधनों की उपलब्धि शीघ्र होने लगती है, जो पूर्व में इतनी सहजता से प्राप्त नहीं होती थी।

वैश्वीकरण की नीति के लाभ या प्रभाव

वैश्वीकरण, बीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक तथा इक्कीसवीं शताब्दी की प्रमुख आर्थिक घटना के रूप में उभरकर सामने आया है। भारत में वर्ष 1991 के पश्चात् से ही, वैश्वीकरण की नीति को अपनाने से भारतीय अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हुई है और उसे विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सामाजिक लाभ प्राप्त हुए हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. आधारभूत संरचना का विकास

वैश्वीकरण से विभिन्न राष्ट्रों के आधारभूत ढाँचे में परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं; जैसे औद्योगिक शक्ति के वैकल्पिक स्रोतों का पता लगा है, विद्युत ऊर्जा, सड़कों, नये रेलमार्गों, नव-बन्दरगाहों, वायु परिवहन तथा दूर संचार का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है।

2. बाजारों का विस्तार

वैश्वीकरण में व्यावसायिक संस्थाओं का आकार बहुत विशाल होता है तथा व्यावसायिक क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत होता है, जिसके कारण इन संस्थाओं को सम्पूर्ण विश्व में व्यवसाय की छूट मिल जाती है तथा बाजारों का विस्तार होता जाता है।

3. पर्यावरण के प्रति सजगता

वैश्वीकरण व्यवसाय के वातावरणीय घटकों की विविधता को बढ़ाता है। इससे सैन्य सन्तुलन, संसाधनों के हस्तान्तरण की सुविधाओं, व्यापारिक सम्बन्ध, दूसरे राष्ट्र की जनसंख्या, जलवायु, बीमारियों, औषधियों, अस्त्र-शस्त्र व्यापार तथा स्वास्थ्य एवं सुरक्षा लागतों पर पूर्ण रूप से ध्यान आकृष्ट हो जाता है, जो अन्ततः सभी दृष्टि से सभी राष्ट्रों के लिए लाभप्रद होता है।

4. श्रम, पूँजी एवं सूचना प्रौद्योगिकी का स्वतन्त्र प्रवाह

वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप सभी सम्बद्ध राष्ट्रों में उन्नत गुणवत्ता युक्त सूचना एवं तकनीकी, योग्य एवं अनुभवी कार्मिक तथा कार्यशील पूँजी का स्वतन्त्र प्रवाह होता है, जिससे अर्थव्यवस्था को संबल मिलता है।

5. स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा का विकास

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत, आयात-निर्यात नीति को पूर्ण प्रोत्साहन बिना कोई बाधा उत्पन्न किये हुए प्रदान किया जाता है, जिससे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को जन्म मिलता है।

6. उत्पादन क्षमता का स्वतन्त्र निर्धारण

वैश्वीकरण का यह प्रभाव होता है कि उत्पादन क्षमता का निर्धारण, स्वतः ही बाजार शक्तियों के द्वारा होता रहता है तथा समय की बचत भी होती है।

7. उपयुक्त उत्पादन एवं व्यापार ढाँचे का चयन

इसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी आर्थिक-सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप तथा उपलब्ध संसाधनों को ध्यान में रखते हुए किसी वस्तु के उपयुक्त उत्पादन एवं व्यापारिक संरचना का चयन करने के लिए स्वतन्त्र होता है।

8. व्यवसाय का स्थानान्तरण सम्भव

वैश्वीकरण के कारण, आपातकालीन परिस्थितियों के अन्तर्गत एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के व्यवसायों को अपने यहाँ स्थानान्तरित कराने में सहायता करता है ताकि समाप्ति के पश्चात् वे व्यवसाय पुनः मूल राष्ट्र में हस्तान्तरित हो सकें।

9. निर्माण संयन्त्रों की बहुलता

वैश्वीकरण की नीति को अपनाने से एक ही राष्ट्र के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अनेक निर्माण संयन्त्र स्थापित हो जाते हैं, जिससे रोजगार को बढ़ावा मिलता है तथा उनके उत्पादन का लाभ सम्पूर्ण या एक विस्तृत क्षेत्र के उपभोक्ताओं को प्राप्त होता है।

10. स्वदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों का विकास

वैश्वीकरण के पश्चात् भारत में स्वदेशी, बहुराष्ट्रीय निगमों की स्थापना का

दौर चल रहा है। आई.सी.आई.सी. आई. रिलायन्स, एच.डी.एफ.सी., आई.डी.बी.आई., कोटक महिन्द्रा आदि निगम अब विदेशों तक अपने क्षेत्र का विस्तार करने में लगे हैं, इससे देश की अर्थव्यवस्था को भी संबल मिला है।

11. अन्य प्रभाव

इसके अन्य प्रभाव निम्नांकित हैं—

- (1) भुगतान सन्तुलन सकारात्मक होने लगा है।
- (2) सामाजिक क्षेत्रों जैसे चिकित्सा, शिक्षा, परिवार नियोजन आदि पर भारी विनियोजन सम्भव हो पाया है।
- (3) रोजगार के अवसरों में वृद्धि होने से बचत एवं विनियोग में भी भारी वृद्धि हुई है।
- (4) राष्ट्रीय जीवन स्तर में उत्तरोत्तर सुधार होता जा रहा है।
- (5) सरकार, समाज, संगठन तथा कार्मिकों के मध्य परस्पर मधुर सम्बन्ध बने हैं।
- (6) बहुराष्ट्रीय निगमों के आगमन के कारण देश की बहुमुखी प्रतिभाओं का पलायन रुका है।

वैश्वीकरण के विपक्ष में तर्क या वैश्वीकरण के दुष्प्रभाव

वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण के दुष्प्रभावों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) व्यवसाय पर दुष्प्रभाव

वैश्वीकरण के व्यवसाय पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव निम्नलिखित हैं—

- (1) वैश्वीकरण से गलाकाट प्रतिस्पर्धा का जन्म होता है और इससे अर्थव्यवस्था को धक्का लग सकता है।
- (2) लघु एवं कुटीर उद्योगों के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना प्रबल हो जाती है। इससे क्षेत्रीय विषमता को बढ़ावा मिलता है।
- (3) स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण निर्यातों को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। इससे

आयातित वस्तुएँ बहुत महँगी हो जाती हैं।

(4) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में निरन्तर बढ़ोतरी हानिकारक बन जाती है क्योंकि स्थानीय व्यावसायिक तथा औद्योगिक संगठनों पर बाह्य संस्थाओं का नियन्त्रण होने लगता है।

(5) संस्थाओं के अधिग्रहण करने या संविलयन करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इससे छोटी संस्थाओं के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

(6) बड़े या बहुराष्ट्रीय संगठन आर्थिक क्षेत्र पर एकाधिकार करने की स्थिति में आ जाते हैं। इससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में भुगतान सन्तुलन नकारात्मक स्थिति में आने की सम्भावना बढ़ जाती है।

(2) सामाजिक और आर्थिक दुष्प्रभाव

वैश्वीकरण के सामाजिक-आर्थिक दुष्प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(1) दैनिक जीवन की वस्तुओं के लिए सम्पूर्ण विश्व खुली अर्थव्यवस्था के अनुरूप होने पर देश में ऐसी वस्तुएँ महँगी होने लगेंगी।

(2) उद्योगों में यन्त्रीकरण बढ़ने से बेरोजगारी की सम्भावना बढ़ जाती है, जो राष्ट्र के हित के लिए ठीक नहीं है।

(3) बहुराष्ट्रीय निगमों को महत्व प्रदान करने से विकासशील राष्ट्रों की योजनाओं की प्राथमिकता प्रभावित होगी और इससे देश का सन्तुलित आर्थिक विकास भी प्रभावित हो सकता है।

(4) विदेशी कम्पनियों के द्वारा भारतीय उद्योगों के साथ भेदभाव प्रारम्भ हो गया है। उन्हें मिलने वाली छूटों से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कारण वंचित किया जा रहा है।

(5) बिना सरकारी संरक्षण के अनेक घरेलू व्यवसाय या व्यावसायिक संस्थाएँ बर्बाद या बन्द होने की कगार पर आ सकती हैं।

(6) वैश्वीकरण की नीति लागू होने के उपरान्त समस्त राष्ट्र व्यावसायिक बाजारों की श्रेणी में आ जायेंगे, जिससे उनकी सार्वभौमिकता पर आंच आ सकती है।

वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण के प्रभाव

भिन्न-भिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं में विश्व अर्थव्यवस्था के प्रभाव का

अनुभव किया जा रहा है। प्रत्येक देश का उद्योग तथा व्यापार विश्व के अन्य भागों में हो रहे परिवर्तनों से प्रभावित होता है। सम्पूर्ण विश्व एक बाजार बन चुका है। आधुनिक अर्थव्यवस्थाएं खुली अर्थव्यवस्था होती हैं और व्यवसाय वैश्विक स्थिति प्राप्त करता जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भिन्न-भिन्न देशों में कार्य कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उपक्रम भी देखने को मिलते हैं, वैश्विक विपणन के लिए दूरदर्शन के संजाल का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, विश्व व्यापार संगठन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की जा चुकी है। इन सभी से यह पता चलता है कि वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण का प्रभाव प्रत्येक स्थान पर दिखायी पड़ रहा है।

अतः संक्षेप में, हम वैश्वीकरण के प्रभावों को निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) सामाजिक चेतना का विकास

शिक्षा के प्रचार प्रसार ने लोगों की सोच को प्रभावित किया है। रूढ़िवादी विचार का स्थान उदारवादी विचार ले रहे हैं। जीवन स्तर में सुधार हुआ है तथा जीवन-शैली में परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ रहे हैं। सन्देशवाहन के उन्नत साधनों से विश्व का आकार छोटा हो गया है। विकसित देशों की सोच एवं जीवन के ढंग का अनुसरण अन्य देशों के लोगों द्वारा किया जा रहा है। व्यवसाय से की जाने वाली अपेक्षाएँ बढ़ती जा रही हैं। पहले लोगों को जो कुछ उद्योग प्रदान करता था, वे उससे सन्तुष्ट रहते थे किन्तु अब वे उचित मूल्यों पर उत्तम गुणवत्ता की वस्तुएँ चाहते हैं। वैश्विक प्रतिस्पर्धा ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है, जहाँ केवल वे व्यावसायिक उपक्रम जीवित रह पायेंगे, जो उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि के अनुरूप वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन कर सकें। लोग व्यवसाय को सामाजिक रूप से भी प्रत्युत्तर बनना देखना चाहते हैं। औद्योगिक इकाइयों द्वारा प्रदूषण का नियन्त्रण भी एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें व्यवसाय को महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना है। इस प्रकार व्यवसाय के वैश्वीकरण ने समाज में एक नये प्रकार की सामाजिक चेतना को जन्म दिया है।

(2) प्रौद्योगिकी परिवर्तन

विश्व में बहुत तेजी से प्रौद्योगिकी परिवर्तन हो रहे हैं। औद्योगिक इकाइयाँ प्रतिदिन नये-नये एवं श्रेष्ठतर उत्पादों का निर्माण कर रही हैं। दूरसंचार एवं

परिवहन की उन्नत विधियों ने विश्व विपणन में क्रान्ति सी ला दी है। उपभोक्ता अब इतना सचेत हो गया है कि वह प्रतिदिन से श्रेष्ठ उत्पाद प्राप्त करना चाहता है। कम्पनियाँ शोध एवं विकास पर अत्यधिक धन खर्च कर रही हैं। इस प्रकार तीव्र प्रौद्योगिकी परिवर्तनों ने उत्पादों के लिए विश्व बाजार उत्पन्न कर दिया है।

(3) व्यवसाय का वैश्विक स्वरूप

आधुनिक व्यवसाय स्वभाव से वैश्विक बन गया है। निर्माणी वस्तुओं में विशिष्टीकरण का गुण पाया जाता है। ये वस्तुएँ वहीं उत्पादित की जाती हैं जहाँ उत्पादन लागत की प्रतिस्पर्धा होती है। इस प्रकार की वस्तुएँ अन्य देशों को निर्यात की जाती हैं। वे वस्तुएँ जो मितव्ययी ढंग से उत्पादित नहीं की जा सकती हैं, बाहर से आयात की जाती हैं। बड़ी संख्या में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत में प्रवेश कर चुकी हैं, जो विभिन्न देशों की वस्तुओं का निर्यात करने के लिए भारत में उपलब्ध उत्पादन सुविधाओं का भी प्रयोग करती हैं। इस प्रकार, भारतीय व्यवसाय वैश्विक आर्थिक प्रवृत्तियों से प्रभावित है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण हेतु उठाये गये कदम

हमारे भारत देश में केन्द्रीय सरकार द्वारा उद्घोषित सन् 1991 की औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप, वैश्वीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। भारतीय उपक्रमों को विश्व स्तर पर प्रतियोगिता की श्रेणी में लाने हेतु सरकार ने उन सभी प्रकृति की वस्तुओं को स्वतन्त्र व्यापार नीति के अन्तर्गत लिया है, जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध विश्व के उपभोक्ताओं से है। इस नीति के अनुसार, वैश्वीकरण को बढ़ावा देने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं—

(1) परमाणु ऊर्जा तथा रेल परिवहन को छोड़कर शेष आरक्षित उद्योगों की संख्या 17 से घटाकर 2 कर दी गयी है, जिससे निजी या बहुराष्ट्रीय निगम क्षेत्र को बढ़ावा दिया गया है।

(2) 97 प्रतिशत लाभ अर्जित करने वाले सार्वजनिक उपक्रमों की इकाइयों को और अधिक स्वायत्तता प्रदान की गयी है।

(3) अर्थव्यवस्था को विदेशी पूँजी आगमन के लिए खोल दिया गया है, जिसमें अब—

(1) विदेशी निवेशकों की अंश पूँजी में भागीदारी 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 51 प्रतिशत कर दी गयी है।

(2) उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को 51 प्रतिशत पूँजी निवेश की सुविधा, बिना कोई बाधा डाले एवं लाल फीताशाही के चंगुल से मुक्त करते हुए दी जायेगी।

(3) आयात-निर्यात नीति में से 69 वस्तुओं को आयात की प्रतिबंधित सूची में से हटा लिया गया है।

(4) 1 अप्रैल, 2001 से विशेष आयात लाइसेंस एवं परिमाणात्मक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये गये हैं।

(5) विश्व व्यापार संगठन द्वारा व्यापार को सम्बद्ध बौद्धिक सम्पदा अधिकार का हिस्सा बनाये जाने से पेटेन्ट अधिनियम 1970 में भी सरलतम प्रावधान किये गये हैं।

(6) देश से निर्यात करने वाले विदेशी घरानों को 51 प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश की छूट प्राथमिकता के आधार पर दी गयी है।

(7) अनिवासी भारतीयों या विदेशी निगमों को धातु वर्गीय तथा आधारभूत क्षेत्र के 9 उद्योगों एवं 13 अन्य प्राथमिकता वाले उद्योगों में 100 प्रतिशत तक विदेशी अंश पूँजी के निवेश की अनुमति प्रदान की गयी है।

(8) 25 जून, 2002 को भारत सरकार ने प्रिन्ट मीडिया के क्षेत्र में 26 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, टेक्नोलॉजी एवं मेडीकल प्रकाशनों में 74 प्रतिशत विदेशी निवेश की अनुमति दी है।

(9) उत्पादन शुल्क की 11 दरों को घटाकर केवल दो सरल एवं युक्तिसंगत दरों में परिवर्तित कर दिया गया है, जिससे व्यवसायी एवं उपभोक्ता, दोनों ही परेशानी से बच सकें।

(10) विदेशी कम्पनियों को अचल सम्पत्तियों का लेन-देन करने, भारतीय पूँजी बाजार में विनियोग करने तथा एक अनिवासी से दूर अनिवासी को अंश हस्तान्तरण की अनुमति दी गयी है।

वैश्वीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली को किस प्रकार बदल

पिछले कुछ दशकों से वैश्वीकरण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में एक प्रमुख विषय रहा है। आधुनिक समाज के लगभग सभी पहलू किसी न किसी तरह से इससे प्रभावित हुए हैं। इसके अलावा, वैश्वीकरण को "देशों के बीच सीमा-पार

बातचीत और अन्योन्याश्रितता की तीव्रता" (1) के रूप में समझा जाता है, जिसने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में बड़ा बदलाव लाया है। वैश्वीकरण शब्द की यह परिभाषा हमें अलग-अलग राज्यों के बीच संबंधों में बदलाव को समझने की अनुमति देती है, जो कमोबेश एक-दूसरे के साथ-साथ अस्तित्व में थे, और एक अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में उनके एकीकरण की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें वे पहले की तुलना में एक-दूसरे पर अधिक निर्भर हैं और जहां उनके क्षेत्र के बाहर होने वाली घटनाओं का उन पर प्रभाव पड़ने की संभावना लगभग एक सदी पहले की तुलना में कहीं अधिक है। यह निबंध अब उन विभिन्न तरीकों का विश्लेषण करेगा जिनसे राज्य एक-दूसरे पर अधिक निर्भर हो गए हैं और वैश्वीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में यह बदलाव कैसे लाया है।

इस प्रक्रिया में विभिन्न अंतर-सरकारी संगठनों (आई.जी.ओ.) ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिन्होंने वैश्वीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से महत्व प्राप्त किया। वैश्वीकरण के युग से पहले, राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को बढ़ावा देने की तलाश में थे। वे वैश्विक सुरक्षा की तुलना में अपनी सुरक्षा के बारे में अधिक चिंतित थे और वे अंतरराष्ट्रीय स्तर के बजाय घरेलू स्तर पर समस्याओं से निपटने के तरीकों की तलाश कर रहे थे।

आजकल, चूंकि राज्यों को जिन मुद्दों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वे राष्ट्रीय से अधिक वैश्विक होते जा रहे हैं, इसलिए राज्य अब अपने नागरिकों की रक्षा करने और अपने स्वयं के साधनों से समस्याओं से निपटने में सक्षम नहीं हैं, जब तक कि वे आई.जी.ओ. में अन्य राज्यों के साथ मिलकर सामूहिक कार्रवाई न करें। इनमें शामिल होने से, राज्य अपनी संप्रभुता का कुछ हिस्सा अपने सदस्य-राज्यों की सामूहिक इच्छा और निर्णयों द्वारा शासित निकाय को सौंप देते हैं। यह संयुक्त संप्रभुता पहले अस्तित्व में नहीं थी और इसका अर्थ कभी-कभी यह होता है कि राज्यों को बहुमत के निर्णय का पालन करना पड़ता है और इस प्रकार वे इससे प्रभावित होते हैं, भले ही यह व्यक्तिगत राज्य की प्रारंभिक इच्छा न रही हो। इसलिए, वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने वाले अन्य देशों पर निर्भर होते हैं। हालांकि, कभी-कभी उन्हें राष्ट्रीय लक्ष्यों के बजाय अंतर्राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपने राष्ट्रीय हितों का त्याग करना पड़ता है। इसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के उदाहरण से प्रदर्शित किया जा सकता है, जहां प्रस्ताव पारित कराने के इच्छुक सदस्य-राज्य पांच स्थायी सदस्यों पर निर्भर हैं। चूंकि इनके पास

वीटो-शक्तियां हैं, इसलिए वे कभी-कभी पूरे प्रस्ताव को रोकने में सक्षम होते हैं, भले ही अन्य सभी सदस्यों ने इसके पक्ष में मतदान किया हो। एक और निहितार्थ जो कुछ फ्लैट घटके अपने सदस्य-राज्यों के लिए है, वह है कुछ परिस्थितियों में (किसी भी रूप में) कार्य करने का दायित्व। उदाहरण के लिए, NATO के सदस्य-राज्य उत्तरी अटलांटिक संधि के अनुच्छेद 5 के तहत सहमत हुए।

“कि यूरोप या उत्तरी अमेरिका में उनमें से एक या अधिक (सदस्य-राज्यों) के खिलाफ सशस्त्र हमला उन सभी के खिलाफ हमला माना जाएगा और परिणामस्वरूप वे सहमत हैं कि, यदि ऐसा सशस्त्र हमला होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 51 द्वारा मान्यता प्राप्त व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग करते हुए, व्यक्तिगत रूप से और अन्य पक्षों के साथ मिलकर, उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की सुरक्षा को बहाल करने और बनाए रखने के लिए सशस्त्र बल के उपयोग सहित, आवश्यक समझी जाने वाली कार्रवाई करके हमला किए गए पक्ष या पक्षों की सहायता करेगा।”

यह उदाहरण इस बात पर जोर देता है कि नाटो के सदस्य-राज्य एक-दूसरे पर कैसे निर्भर हैं और दूसरे सदस्य-राज्यों में जो कुछ भी होता है, उससे प्रभावित होते हैं। इसके परिणामस्वरूप, संयुक्त राज्य अमेरिका अनुच्छेद 5, उत्तरी अटलांटिक संधि के तहत, नाटो के किसी यूरोपीय सदस्य-राज्य को सेना या सहायता भेजने के लिए बाध्य हो सकता है, यदि उस राज्य पर हमला होता है, भले ही अमेरिका का व्यक्तिगत रूप से उस संघर्ष से कोई लेना-देना न हो और भौगोलिक रूप से भी हमला किए गए राज्य के करीब न हो। यह इस धारणा का समर्थन करता है कि आजकल की घटनाएँ “स्थानहीन (३), दूरीहीन (३), और सीमाहीन (३)” हो गई हैं। इसलिए राज्य अब अन्य देशों में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से पूरी तरह अप्रभावित नहीं हैं, लेकिन वे किसी तरह से प्रभावित होने की संभावना रखते हैं।

एक और उदाहरण कि कैसे कुछ ही राज्य पूरी दुनिया पर उल्लेखनीय प्रभाव डाल सकते हैं, वह है 1960 में स्थापित पेट्रोलियम निर्यातक देशों का संगठन (ओपेक)। 1970 के दशक में ओपेक ने तेल की कीमत में काफी वृद्धि की, जिसका दुनिया के कई देशों पर भारी असर पड़ा। इस प्रकार, उस समय ओपेक में केवल 12 सदस्य-राज्य थे, उनके निर्णय का प्रभाव कई और राज्यों पर पड़ा।

हालांकि, यह केवल अलग-अलग राज्यों के सदस्य वाले फ्लैट ही नहीं हैं जो

राज्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ाते हैं। विभिन्न देशों के विभिन्न क्षेत्रों के बीच सीमा पार संबंधों ने वैश्वीकरण के दौरान राज्यों पर समान प्रभाव डाला है। इसके अलावा, इन संगठनों में राज्य निर्णय नहीं लेते हैं, बल्कि उनके घटक प्रांत या क्षेत्र कार्रवाई करते हैं जिसका फिर दुनिया के व्यापक हिस्से पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे संगठनों के उदाहरणों में यूरोपीय क्षेत्रों की सभा या यूरोपीय संघ की क्षेत्रों की समिति शामिल हैं जो 1970 के दशक से अस्तित्व में हैं और तब से अपने सदस्य क्षेत्रों के संबंधित देशों को प्रभावित कर रहे हैं। इस तरह, राज्य भी अधिक अन्योन्याश्रित हो गए हैं, विशेष रूप से अपने कार्यों से नहीं, बल्कि उनके घटक क्षेत्रों के ऐसे क्षेत्रीय संगठनों का हिस्सा बनने के कारण।

वैश्वीकरण द्वारा प्रोत्साहित किया गया एक और विकास आधुनिक अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में राज्यों की परस्पर संबद्धता को दर्शाता है — निजी क्षेत्र की संस्थाएँ। 1961 में स्थापित इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ स्टॉक एक्सचेंज जैसी संस्थाओं ने क्रेडिट दरों और खाद्य कीमतों जैसे मुद्दों पर अपने निर्णयों और की गई कार्रवाइयों से दुनिया भर के कई देशों और पूरी वैश्विक अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है।

इससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से, राष्ट्रीय सीमाओं के खुलने और मुक्त व्यापार के कार्यान्वयन के माध्यम से राज्य अधिक परस्पर निर्भर हो गए हैं। वैश्वीकरण के कारण अब कंपनियों के लिए अन्य देशों में शाखाएँ या उत्पादन स्थल स्थापित करना आसान हो गया है जहाँ कंपनी के लिए स्थितियाँ बेहतर हैं। हालाँकि, इससे देशों के बीच प्रतिस्पर्धा भी बढ़ जाती है क्योंकि उनमें से प्रत्येक चाहता है कि कंपनियाँ उनके देश में स्थापित हों। इस प्रकार राज्य एक-दूसरे पर इस हद तक निर्भर हैं कि उन्हें कंपनियों के लिए दूसरों की तुलना में अधिक आकर्षक बनने की कोशिश करनी पड़ती है। इसके अलावा, मुक्त व्यापार से ऐसी स्थितियाँ पैदा होनी चाहिए थीं जिसके तहत हर राज्य किसी भी अन्य राज्य के साथ स्वतंत्र रूप से और समान अवसरों के साथ व्यापार कर सके। लेकिन चूँकि यह वास्तव में सभी देशों के लिए समान रूप से अनुकूल नहीं है, क्योंकि कुछ देश दूसरों की तुलना में सस्ता निर्यात कर सकते हैं और इस प्रकार व्यापार-भागीदार होने की अधिक संभावना है, इसलिए कुछ देशों को अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की रक्षा के लिए टैरिफ और कोटा लागू करना पड़ा। इस तरह, राज्यों पर दूसरे देश के टैरिफ और कोटा से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ताकि उनके साथ व्यापार किया जा सके। कभी-कभी इसका अर्थ यह भी होता है कि विशेष राज्य उस देश के साथ कुछ

वस्तुओं का व्यापार करने में सक्षम नहीं होता, क्योंकि प्रतिबंधों का पालन करने से उस विशेष राज्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

एक अंतिम लेकिन कम महत्वपूर्ण कारक जो राज्यों की परस्पर निर्भरता को बढ़ाने में विशेष रूप से महत्वपूर्ण था, वह है “३ राष्ट्रीय पूंजी बाजारों का विलय। ३ (और) एक एकीकृत वैश्विक अर्थव्यवस्था का उदय”। चूंकि अब राज्यों का अपनी अर्थव्यवस्थाओं पर एकमात्र नियंत्रण नहीं है, इसलिए वे अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार को विनियमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष या विश्व बैंक जैसे निकायों के सामूहिक शासन पर निर्भर हैं। एक ओर, यह नई निर्भरता सदस्य-राज्यों को किसी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करती है, यदि उनकी अर्थव्यवस्था वित्तीय कठिनाइयों में पड़ जाती है, लेकिन दूसरी ओर इस परस्पर जुड़ाव के नकारात्मक प्रभाव भी हो सकते हैं, जैसा कि हाल ही में आर्थिक संकट में देखा जा सकता है। नतीजतन, एक वैश्विक अर्थव्यवस्था के उभरने से राज्यों के एक या दो देशों में शुरू होने वाले संकट से प्रभावित होने का जोखिम भी बढ़ जाता है, लेकिन चूंकि ये वैश्विक अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं, इसलिए यह जल्दी से फैल जाता है और इस प्रकार अन्य राज्यों पर हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है जिनकी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था भी काफी छोटी हो सकती है और इस प्रकार वे और भी अधिक पीड़ित हो सकते हैं।

कुल मिलाकर, यह प्रदर्शित किया गया है कि वैश्वीकरण ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली को काफी हद तक बदल दिया है, क्योंकि इसने राज्यों को कहीं अधिक अन्योन्याश्रित और परस्पर जुड़ा हुआ बना दिया है। दुनिया अब कई अलग-अलग और पृथक देशों का स्थान नहीं है, बल्कि ये राज्य कई अलग-अलग स्तरों पर लगभग एक इकाई का निर्माण करते हैं। समस्याएँ अब अलग-अलग नहीं उठती हैं और इसलिए इनका समाधान अब व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के बजाय सामूहिक कार्रवाई में खोजना होगा। अंतर-सरकारी संगठन, निजी क्षेत्र के निकाय और वैश्विक वित्तीय संस्थान — वैश्वीकरण के उत्पाद — ने इन वैश्विक समस्याओं को हल करने और वैश्विक बाजार और अर्थव्यवस्था बनाने की कोशिश में अग्रणी भूमिका निभाई है। और ऐसा करके, उन्होंने एक साथ राज्यों को एक-दूसरे के करीब ला दिया है और इस तरह उन्हें एक-दूसरे पर अधिक निर्भर बना दिया है।

वैश्वीकरण के संघर्ष

हम एक ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो एक साथ सिकुड़ रही है और फैल

रही है, एक दूसरे से दूर और पास होती जा रही है....राष्ट्रीय सीमाएँ लगातार अप्रासंगिक होती जा रही हैं। और फिर भी वैश्विकता किसी भी तरह से विजयी नहीं है। सभी प्रकार की जनजातीयताएँ पनप रही हैं। अप्रासंगिकता बहुत ज्यादा है (अटाली, 1991: 117)।

संस्कृति में आवागमन में भारी वृद्धि, अर्थ प्रणालियों और प्रतीकात्मक रूपों के बड़े पैमाने पर हस्तांतरण के कारण, दुनिया न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से बल्कि अपने सांस्कृतिक निर्माण के संदर्भ में भी एक होती जा रही है; लगातार सांस्कृतिक संपर्क और आदान-प्रदान का एक वैश्विक समुदाय। हालाँकि, यह कोई समतावादी वैश्विक गाँव नहीं है (हैनरज़, 1991: 107) (जोर दिया गया)।

वैश्विक परिवर्तन की गति बहुत तेज़ है, और इसे ट्रैक करने और विश्लेषण करने के लिए प्रशिक्षित लोगों को भी नए विकास के साथ तालमेल बिठाने में कठिनाई होती है। हालाँकि, रुझानों को नियमित रूप से देखा और नामित किया जाता है, और ये नए शब्द सरकारों, शिक्षाविदों और मीडिया के शब्दकोशों में “चर्चा के शब्द” बन जाते हैं। ऐसा ही एक शब्द है वैश्वीकरण। हालाँकि, यह निश्चित रूप से अस्पष्ट है, और जिस घटना का वर्णन करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है वह अत्यंत विविध है, यह सदी के अंत में एक प्रचलित भावना को व्यक्त करता है कि हमारे जीवन तेजी से उन ताकतों से प्रभावित हो रहे हैं जो सीमाओं को पार कर चुकी हैं, और जो, अपने दायरे और शक्ति के कारण, इस ग्रह पर जीवन को अपरिवर्तनीय रूप से बदल रही हैं। इस प्रक्रिया से समाज के सभी स्तरों को नया रूप दिया जा रहा है: व्यक्ति को अपनी आजीविका को खतरा हो सकता है या पहचान पर सवाल उठ सकता है; स्थानीय और पूरे क्षेत्र खुद को फिर से बनाने या नई आर्थिक ताकतों के सामने मरने के लिए मजबूर हो जाते हैं; और राष्ट्र-राज्य खुद लगातार कम होती हुई कार्रवाई की स्वतंत्रता और एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंधों का अनुभव करते हैं।

इस समय इस तथ्य के बीच एक गंभीर विरोधाभास है कि वैश्वीकरण पूरे जोरों पर है, और यह तथ्य कि वैश्विक शासन की मौजूदा प्रक्रियाओं में इस प्रक्रिया को लाभकारी उद्देश्यों की ओर विनियमित और निर्देशित करने के लिए पर्याप्त शक्ति, अधिकार और गुंजाइश नहीं है। परिणामस्वरूप वैश्वीकरण अक्सर अपने प्रभावों में विघटनकारी और असमान होता है। इसने मौजूदा सार्वजनिक संस्थानों के लिए नई चुनौतियाँ भी पेश की हैं, जबकि साथ ही उनकी स्वायत्तता और

समर्थन को कमजोर किया है; और, विडंबना यह है कि इसने उन लोगों को साधन प्रदान किए हैं जिन्हें इसने सांस्कृतिक या आर्थिक रूप से बहिष्कृत कर दिया है ताकि वे इसके अधीनस्थ और समरूपी बल के विरुद्ध संगठित हो सकें। कई विश्लेषकों ने इस ग्रहीय प्रक्रिया की अशांत प्रकृति और इसके प्रति प्रतिक्रियाओं की बढ़ती आवृत्ति और विविधता की ओर इशारा किया है। इस साहित्य का उपयोग करते हुए, यह पत्र पहले वैश्वीकरण के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने का प्रयास करता है और फिर सामाजिक संघर्ष और अशांति पैदा करने की इसकी क्षमता पर विचार करता है। इसके बाद, जॉन बर्टन द्वारा विकसित और लागू किए गए मानवीय आवश्यकता सिद्धांत का उपयोग इन संघर्षों की कुछ जड़ों का पता लगाने के लिए किया जाता है और अंत में, वैश्वीकरण को वैश्वीकरण के एक सकारात्मक और संभावित सुधारात्मक आयाम के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

हालांकि पिछली चर्चा सुझावात्मक है, लेकिन वैश्वीकरण और संघर्ष के बीच के संबंध को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। अधिकांश साहित्य संस्कृति और पहचान के मुद्दों पर केंद्रित संघर्षों और मुख्य रूप से आर्थिक प्रतीत होने वाले अन्य संघर्षों के बीच अंतर करता है, और आगे की चर्चा इस दृष्टिकोण को अपनाती है, जबकि यह स्वीकार करती है कि व्यवहार में दोनों तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हालाँकि, विश्व दृष्टिकोण और हितों के संघर्षों को स्वाभाविक रूप से खतरनाक या नकारात्मक के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन के कई तनाव काफी हद तक अपरिहार्य हैं, और कुछ निस्संदेह अपने प्रभावों में रचनात्मक हैं। साथ ही, हालाँकि, आगे का विश्लेषण यह सुझाव देता है कि यदि इसमें शामिल मानवीय आवश्यकताओं और अधिकारों के मुद्दों को पर्याप्त रूप से संबोधित नहीं किया जाता है, तो वैश्वीकरण से जुड़े सामाजिक संघर्ष की घटना और तीव्रता आने वाले वर्षों में लगातार बढ़ने की संभावना है।

परिवर्तन की गति और दायरा

सामाजिक परिवर्तन, अपने आप में, ऐतिहासिक रूप से संघर्ष के बढ़ते स्तरों से जुड़ा हुआ है। पीए सोरोकिन ने अपने क्लासिक सोशल एंड कल्चरल डायनेमिक्स के खंड ५ में इस पर बहुत गहराई से शोध किया है, जिसका शीर्षक है सामाजिक संबंध, युद्ध और क्रांति में उतार-चढ़ाव (सोरोकिन, 1937: 409–475)। 500 ईसा पूर्व से 1925 ई. तक की अवधि में बारह यूरोपीय देशों और साम्राज्यों

के उनके अध्ययन से पता चला कि जिसे उन्होंने "सामाजिक संघर्ष" कहा था, उसका परिमाण उस अवधि के दौरान सबसे अधिक था जब कोई समाज विश्व-दृष्टिकोण में बड़े बदलाव से गुजर रहा था — उदाहरण के लिए धार्मिक, अन्य-सांसारिक दृष्टिकोण से अधिक धर्मनिरपेक्ष और भौतिकवादी दृष्टिकोण की ओर। परिवर्तन की ऐसी अवधि, परिभाषा के अनुसार, संक्रमणकालीन होती है, और मूल्यों और हितों के संघर्षों की विशेषता होती है, जो व्यापक और हिंसक हो गए हैं।

वैश्वीकरण के विभिन्न टीकाकारों जैसे रिचर्ड बार्नेट (बार्नेट और कैवनाघ, 1994) और रुड लुबर्स (लुबर्स, 1997) के बीच सहमति के कुछ बिंदुओं में से एक यह है कि वैश्वीकरण का प्रसार और त्वरण अभूतपूर्व पैमाने पर परिवर्तन उत्पन्न कर रहा है। इसलिए, सोरोकिन के निष्कर्षों को पूरी दुनिया में सामान्यीकृत करते हुए, यह निष्कर्ष निकालने के लिए आधार हो सकते हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से विघटनकारी है और संघर्ष की बढ़ती घटनाएं इसका एक अपरिहार्य उप-उत्पाद हैं। अर्नोल्ड टॉयनबी (टॉयनबी, 1956) के बाद यह तर्क दिया जा सकता है कि वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न संघर्ष एक उभरती हुई विश्व सभ्यता (टॉयनबी, 1960: 107) के रूप में उनके द्वारा देखी गई एक महत्वपूर्ण प्रारंभिक चुनौती का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसका तत्काल भविष्य इस बात से बहुत प्रभावित होगा कि आने वाले वर्षों में इन विभाजनकारी मुद्दों को कैसे देखा जाता है और उनसे कैसे निपटा जाता है।

रिप्लेक्सिविटी का विरोधाभास

कई विश्लेषकों ने तर्क दिया है कि दुनिया भर के समाजों में तेजी से होने वाले बदलावों का एक प्रभाव रिप्लेक्सिविटी को बढ़ाना है, जो बदले में संघर्ष की घटनाओं में योगदान देता है। वाटर्स के इस अंश पर विचार करें:

आधुनिक समाज ... चरित्र में विशेष रूप से प्रतिवर्ती है। सामाजिक गतिविधि लगातार सूचना और विश्लेषण के प्रवाह से सूचित होती है जो इसे निरंतर संशोधन के अधीन करती है और इस प्रकार इसे बनाती और पुनरुत्पादित करती है। ... आधुनिक लोगों के सामने विशेष कठिनाई यह है कि यह ज्ञान स्वयं लगातार बदल रहा है, जिससे आधुनिक समाज में रहना अनियंत्रित प्रतीत होता है, जैसे कि एक अनियंत्रित रथ पर सवार होना ... (वाटर्स, 1995: 51)। (जोर दिया गया)

एंथनी गिडेंस ने तर्क दिया कि औद्योगिक राष्ट्र-राज्य "आधुनिक" समाज का अवतार था, और इसे "विशेषज्ञ प्रणालियों" द्वारा चिह्नित किया गया है — तकनीकी ज्ञान के भंडार जिन्हें सामाजिक संदर्भों की एक विस्तृत श्रृंखला में तैनात किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, इन विशेषज्ञ प्रणालियों ने नागरिक प्रशासन की एक तकनीकी शैली को जन्म दिया है। हालाँकि, आधुनिकता का यह आयाम उस भरोसे पर टिका है, जो कई जोखिमों और अनिश्चितताओं के सामने, अलग-अलग लोग — 'नागरिक', 'उपभोक्ता', 'ग्राहक', 'यात्री' या 'रोगी', संदर्भ के आधार पर — इन अमूर्त और सामाजिक रूप से दूर विशेषज्ञ प्रणालियों में रखते हैं। हालाँकि, बढ़ती हुई सजगता दुनिया भर में विशेषज्ञ प्रणालियों में विश्वास को कम कर रही है। अधिक से अधिक मुद्दों के संबंध में यह भावना है कि विशेषज्ञ या तो विफल हो गए हैं, या उनके दिल में सार्वजनिक हित नहीं है। उदाहरण के लिए, स्पाइबे ने बताया कि कैसे "आधुनिक समाज के अंत" में: "... लोगों द्वारा इसके खतरों के बारे में विशेषज्ञों के आश्वासन को स्वीकार करने से इनकार करना बढ़ रहा है" (स्पाइबे 1996, 153)। वह आगे कहते हैं:

यदि उन्नीसवीं सदी में, जो लोग इसे समझते थे और इसके लाभों तक पहुँच रखते थे, वे आधुनिकता और इसके वैज्ञानिक-तकनीकी चमत्कारों की प्रचुरता से खुश थे, तो आधुनिकता के उत्तरार्ध के लोग बड़े पैमाने पर उपभोग की अपेक्षा करने के लिए सुसंस्कृत हैं, लेकिन इसके लाभों के बारे में संदेह विकसित करने के लिए पर्याप्त रूप से अच्छी तरह से सूचित हैं। यह आत्म-प्रतिबिंब है और यह वैश्विक स्तर पर साझा किए गए नकारात्मक अनुभवों से प्रेरित है, उदाहरण के लिए चेरनोबिल आपदा। यह व्यक्तिवाद है, जो जन शिक्षा द्वारा सक्षम है और 1960 के दशक के बाद की अनुमति और आत्म-जागरूकता द्वारा प्रोत्साहित किया गया है। (मूल में जोर) (स्पाइबे, 1996: 153)।

इसी तरह, जेम्स रोसेनौ ने "वैश्विक प्राधिकरण संकट" के बारे में विस्तार से लिखा है और उनका विश्लेषण वैश्वीकृत "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बाद" की दुनिया में राजनीतिक संघर्ष की प्रकृति और दायरे के बारे में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। वह बताते हैं कि सूचना तक बहुत अधिक पहुँच और सार्वजनिक संस्थाओं की घटती क्षमता या घटती प्रभावशीलता की सामान्य धारणा के परिणामस्वरूप, नागरिकों ने आज्ञा मानने की अपनी आदत खो दी है। यदि नेता समर्थन जुटाने के लिए अधिक प्रभावी साधन नहीं खोज पाते हैं, तो लोग "...अपनी वफादारी और वैधता की भावनाओं को पुनर्निर्देशित करने पर विचार करना शुरू

कर देते हैं" (रोसेनौ, 1990: 389)। वह आगे बताते हैं कि इस तरह के संकट कैसे परस्पर क्रिया करते हैं और ग्रह के चारों ओर "कैस्केड" करते हैं:

दुनिया अब इतनी परस्पर निर्भर हो गई है कि 'संकट नेटवर्क' विकसित होते हैं, क्योंकि एक समुदाय में संकट के बारे में जानकारी दूसरे तक पहुँचती है, और इसके परिणाम व्यापक होते हैं। सूचना प्रवाह और शरणार्थियों, व्यापारियों, आतंकवादियों और अन्य सीमा-पार व्यक्तियों और समूहों द्वारा उत्पन्न बातचीत के कारण, अधिकार संकट समूहों में ओवरलैप और कैस्केड होते हैं, जो किसी मुद्दे या क्षेत्रीय आधार पर उनके बीच संबंध बनाते हैं (पइपक, 390)।

गिडेंस और रोसेनौ ने एक ऐसी दुनिया का वर्णन किया है जिसमें लोग अधिक जागरूक हैं, और कुछ हद तक सूचना तक उनकी पहुँच और उनके जीवन को आकार देने वाली घटनाओं का विश्लेषण करने की उनकी बढ़ी हुई क्षमता से अधिक सशक्त हैं। इस तस्वीर में, आबादी कम आज्ञाकारी और अधिक मांग वाली हो गई है, ठीक उसी समय जब राष्ट्रीय राजनीतिक संस्थाएँ, जैसा कि नीचे वर्णित है, कई मामलों में अपने बजट और कार्यक्रमों को कम कर रही हैं। इन प्रवृत्तियों का प्रतिच्छेदन उन समूहों के बीच तीव्र प्रतिस्पर्धा के लिए मंच तैयार करता है जो राज्य के संरक्षण से लाभान्वित होते हैं और जो राज्य के हस्तक्षेप से अधिक स्वतंत्रता चाहते हैं।

लेकिन वैश्वीकृत मीडिया और सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा सहायता प्राप्त और प्रेरित होने के बावजूद, रिप्लेक्सिविटी को भी इन्हीं ताकतों से खतरा है। तेजी से शक्तिशाली होते मीडिया दिग्गज वैश्वीकरण की विचारधारा को फैलाते हैं, जिसका प्रभाव यह होता है:

उपग्रह टेलीविजन और विश्वव्यापी प्रकाशनों के वितरण के माध्यम से प्रसारित वैश्वीकरण के मूल्य हर किसी के जीवन में व्याप्त हैं। वैश्विक विपणन, अन्तर्राष्ट्रीय शेयर बाजार और खानाबदोश विश्वव्यापी उद्यम पूंजी की उपलब्धता वैश्विक बाजार मूल्य प्रणाली के उदय के लिए परिदृश्य को पूरा करती है। कोई भी संस्कृति स्थलाकृति, परंपरा या सिर्फ साधारण उदासीनता से सुरक्षित नहीं है — अनिवार्य रूप से कोई भी वैश्वीकरण की विस्तारित भुजा की पहुँच से बाहर नहीं है। (स्टीनगार्ड और फिट्ज़गिबन्स, 1997)

इस प्रकार, वैश्वीकरण ज्ञान और शांति दोनों प्रदान करता है, क्षितिज को विस्तृत करता है और दृष्टि को संकीर्ण करता है। हालाँकि, ऐसा लगता है कि

मीडिया की वैश्वीकरण कथा संज्ञानात्मक असंगति को बढ़ाने के लिए कमजोर है क्योंकि व्यापक समृद्धि की इसकी काल्पनिक छवि वंचना और हाशिए पर होने की छवियों और असुरक्षा और चिंता की बढ़ती लहर द्वारा उलट दी जाती है।

वैश्वीकरण और पहचान

वैश्वीकरण के तीव्र होने का एक और विरोधाभासी प्रभाव यह है कि यह एकरूपता लाने की कोशिश करता है, लेकिन सामाजिक विविधता के बारे में जागरूकता भी बढ़ाता है। जिन समूहों की पहचान और एकजुटता नस्ल, जातीयता, धर्म, भाषा पर आधारित है, वे तेजी से मुखर हो गए हैं और अपने असंतोष को जाहिर करने के लिए वैश्विक मीडिया का इस्तेमाल कर रहे हैं। यह समकालीन "जातीय पुनरुत्थान" कुछ हद तक शीत युद्ध के अंत तक "उद्घाटित" हुआ था। शीत युद्ध राज्यों के बीच संघर्ष था, और इसने विश्व समाज में राष्ट्रीय पहचान की प्रधानता को कायम रखने का काम किया; लेकिन 1990 के दशक में वैश्वीकरण से कमजोर राज्य, अनुपालन को मजबूर करने या राष्ट्रीय समाज को एकीकृत करने में कम प्रभावी है, और अल्पसंख्यक वर्चस्ववादी सांस्कृतिक ताकतों की प्रतिक्रिया में अपनी पहचान को अधिक प्रभावी ढंग से पुनः स्थापित करने में सक्षम हैं। ये अल्पसंख्यक अक्सर राज्य को घरेलू हितों के प्रवर्तक और रक्षक के रूप में नहीं, बल्कि बाहरी ताकतों के साथ सहयोगी के रूप में देखते हैं (शोल्टे, 1997)। इस प्रकार, 1990 के दशक में यह तर्क दिया जा सकता है कि संघर्ष का प्राथमिक केंद्र अब राज्यों के बीच और उनके बीच नहीं पाया जा सकता है, बल्कि राज्य और उप-राष्ट्रीय समूहों के बीच पाया जा सकता है (गुर, 1994 देखें)। इन विकासों का समग्र प्रभाव विश्व राजनीति में सभी प्रमुख खिलाड़ियों के लिए, सीमाओं के भीतर और सीमाओं के पार, सांस्कृतिक विविधता के मुद्दों की प्रमुखता को बढ़ाना रहा है।

कई प्रमुख राजनीतिक विश्लेषकों ने इस विषय पर अलग-अलग तर्क दिए हैं। उदाहरण के लिए, सैमुअल हंटिंगटन ने अंतर-सभ्यता संघर्ष को विश्व मामलों में प्रमुख शक्तियों के लिए नए "खतरे" के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें कहा गया है कि "... लोकतंत्र और उदारवाद के अपने मूल्यों को सार्वभौमिक मूल्यों के रूप में बढ़ावा देने, अपनी सैन्य प्रधानता बनाए रखने और अपने आर्थिक हितों को आगे बढ़ाने के पश्चिम के प्रयासों से अन्य सभ्यताओं से जवाबी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं" (हंटिंगटन, 1993: 29); और वह अपने तर्क को इसके तार्किक निष्कर्ष तक

ले जाने में संकोच नहीं करते हैं, यह भविष्यवाणी करते हुए कि: "अगला विश्व युद्ध, यदि कोई है, तो सभ्यताओं के बीच युद्ध होगा" (हंटिंगटन, 1993: 39)।

हंटिंगटन के काम से उत्पन्न विवाद और खंडन यहाँ तत्काल चिंता का विषय नहीं हैं; हालाँकि, उनका तर्क वैश्वीकरण के कुछ प्रमुख संघर्षों में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। अपने समकालीन रूप में वैश्वीकरण उन मूल्यों का वाहक है जो मूलतः पश्चिमी और चरित्र में उदार हैं, लेकिन उन्हें सार्वभौमिक मूल्यों के रूप में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आक्रामक रूप से बढ़ावा दिया जा रहा है, जिसका अंतर्निहित मूल्य सभी सही सोच वाले लोगों के लिए स्पष्ट होना चाहिए। फ्रांसिस फुकुयामा (1992) की "इतिहास का अंत" थीसिस, या अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (सैक्स, 1995: 51) द्वारा सभी संघर्षरत अर्थव्यवस्थाओं के लिए निर्धारित उदार आर्थिक सुधारों के मानक पैकेज जैसी धारणाओं के पीछे यही दृष्टिकोण है। हंटिंगटन वैश्वीकरण के मिथक को खारिज करने के बारे में स्पष्ट हैं कि विश्व संस्कृति पश्चिमी संस्कृति है, और आगे तर्क देते हैं कि:

ऐसे विचारों को प्रचारित करने के पश्चिमी प्रयासों से 'मानवाधिकार साम्राज्यवाद' के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है तथा स्वदेशी मूल्यों की पुनः पुष्टि होती है, जैसा कि गैर-पश्चिमी संस्कृतियों में युवा पीढ़ी द्वारा धार्मिक कट्टरवाद के समर्थन में देखा जा सकता है (हंटिंगटन, 1993: 40-41)।

कुछ वर्षों बाद इसी विषय पर लिखते हुए, रैंड कॉर्पोरेशन के एक राजनीतिक वैज्ञानिक ग्राहम फुलर ने "संस्कृति संघर्ष" की गतिशीलता का और अधिक पता लगाया, तथा बताया कि कैसे गैर-पश्चिमी लोगों को इस बात के प्रमाणों की बाढ़ का सामना करना पड़ता है कि किसी और के मूल्य उनके समाज को पुनः आकार दे रहे हैं:

... अंतर्राष्ट्रीय विपणन और संचार की प्रणालियाँ विदेशी सांस्कृतिक सामग्रियों — भोजन, दवाएँ, कपड़े, संगीत, फिल्में, किताबें, टेलीविज़न कार्यक्रम, यहाँ तक कि मूल्यों — के बड़े पैमाने पर आयात के लिए मुक्त मार्ग बनाती हैं, जिसके साथ समाजों, प्रतीकों और मिथकों पर नियंत्रण का नुकसान होता है। ऐसी सांस्कृतिक चिंताएँ अधिक कट्टरपंथी राजनीतिक समूहों के लिए स्वागत योग्य ईंधन हैं जो सांस्कृतिक प्रामाणिकता, पारंपरिक और धार्मिक मूल्यों के संरक्षण और विदेशी सांस्कृतिक प्रतिजनों की अस्वीकृति का आह्वान करते हैं। बिग मैक्स अमेरिकी शक्ति — राजनीतिक, आर्थिक और सैन्य — के कमजोर या हिचकिचाते समाजों

और राज्यों पर सीधे-सीधे प्रतीक बन जाते हैं (फुलर, 1995: 152)।

फुलर यह भी तर्क देते हैं कि सिकुड़ते ग्रह पर, पश्चिम इन संघर्षों के द्वितीयक प्रभावों से बच नहीं सकता:

विभिन्न क्षेत्रों में अराजकता और उथल-पुथल गंभीर प्रभाव पैदा करती है, जिसका प्रभाव शेष विश्व पर भी पड़ता है: युद्ध, शरणार्थी, प्रतिबंध, प्रतिबंध, सामूहिक विनाश के हथियार, कट्टरपंथी विचारधारा और आतंकवाद, ये सभी विफल राज्य व्यवस्था की भट्टी से निकलते हैं...पश्चिम कम विकसित राज्यों और उनकी समस्याओं को अनिश्चित काल तक पृथक नहीं रख पाएगा, ठीक उसी तरह जैसे राज्य अपने समाजों में वंचितों को अनिश्चित काल तक पृथक नहीं रख सकते — व्यावहारिक और नैतिक आधार पर (1995, 154)।

“सांस्कृतिक प्रतिक्रिया” के संघर्षों में विभिन्न प्रकार के कट्टरपंथ प्रमुख हैं। गैर-पश्चिमी समाजों में पारंपरिक पहचान समूह पहले से ही अपने समाजों के आधुनिकीकरण के दौरान रक्षात्मक स्थिति में थे क्योंकि राज्य-निर्माण के माध्यम से पश्चिमी संस्थाओं और मूल्यों को पेश किया गया था। वे अब और भी अधिक खतरे में महसूस करते हैं क्योंकि उनके राष्ट्रीय संस्थानों को पहले वर्णित अंतर्राष्ट्रीय दबावों द्वारा कमजोर किया जा रहा है। इन समाजों में परिवर्तन की गति और दिशा दोनों “...एक एकल, अक्सर पौराणिक सत्य की खोज को तेज करती है जो सभी सामाजिक रीति-रिवाजों और प्रथाओं को संदर्भित कर सकती है,” (वाटर्स, 1995: 130) और एक प्रकार के कट्टरपंथी धार्मिक और जातीय आंदोलन को बढ़ावा देती है जो “...एक मूल्य-उन्मुख, आधुनिकता-विरोधी, सामूहिक कार्यवाई का विभेदीकरण करने वाला रूप है — एक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन जिसका उद्देश्य जीवन के सभी क्षेत्रों को निरपेक्ष मूल्यों के एक विशेष समूह के संदर्भ में पुनर्गठित करना है” (लेचनर, 1990: 79)। इस प्रकार वैश्वीकरण उस टकराव के लिए मंच तैयार करता है जिसे बेंजामिन बार्बर ने “मैकवर्ल्ड” और “जिहाद” कहा है। हालांकि हंटिंगटन और फुलर के समान ही विश्लेषण करते हुए बार्बर ने आगे यह दर्शाया कि न तो वैश्वीकरण का व्यवसायीकरण और न ही संकीर्ण एकजुटता लोकतंत्र के लिए अच्छी बात है, तथा उन्होंने संघर्ष में योगदान देने वाले कारण के रूप में धर्म की भूमिका की तीखी आलोचना की, तथा समकालीन कट्टरपंथी आंदोलनों को इस प्रकार वर्णित किया:

...विश्वव्यापी के बजाय संकीर्ण, प्रेमपूर्ण के बजाय क्रोधित, विश्वव्यापी के

बजाय धर्मांतरण करने वाला, बुद्धिवादी के बजाय उत्साही, ईश्वरवादी के बजाय संप्रदायवादी, सार्वभौमिकता के बजाय जातीय केंद्रित...विवादास्पद और विनाशकारी, कभी एकीकृत नहीं करने वाला (बार्बर, 1996: 6)।

ये अंश बताते हैं कि वैश्वीकरण ग्रह पर लगभग सभी पहचान समूहों को उनके अलगाव की विभिन्न डिग्री से बाहर खींच रहा है, उन्हें वैश्विक एकता की धाराओं में धकेल रहा है और इस तरह, उन्हें फिर से परिभाषित करने के लिए बाध्य कर रहा है, या जैसा कि रॉबर्टसन और अन्य कहते हैं, वैश्विक रुझानों के संबंध में खुद को सापेक्ष बनाना। हालाँकि, सापेक्षीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें या तो अस्वीकृति या किसी प्रकार का समायोजन, एकीकरण, या आधिपत्य वाली सांस्कृतिक और आर्थिक ताकतों के साथ संश्लेषण शामिल हो सकता है। इस प्रकार, एक अधिक सूक्ष्म तस्वीर यह दिखाएगी कि पश्चिमी सांस्कृतिक प्रभुत्व के स्थिर विस्तार के बजाय हम वास्तव में जो देख रहे हैं वह है:

...विवादित और अनिर्णीत...वैश्विक सांस्कृतिक प्रवाह और विरासत में मिली स्थानीय पहचानों के बीच मुठभेड़,...अद्वितीय स्थानीय सांस्कृतिक पहचानों की दृढ़ता और कोका-कोलाकरण से लेकर पश्चिमी वैचारिक और राजनीतिक अवधारणाओं के सार्वभौमिकरण तक के पारराष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रभावों को मिलाकर ऐसी विशिष्टता को पुनः आकार देने के बीच असहज संतुलन (वाटर्स, 1995: 130)।

यद्यपि कुछ मामलों में विश्व संस्कृति के उद्भव के लिए यह अधिक आशावादी परिदृश्य है, लेकिन सांस्कृतिक शक्तियों का यह मेल तनावों का ठीक वैसा ही मिश्रण उत्पन्न करता है, जिसे सोरोकिन ने उच्च सामाजिक संघर्ष के काल की विशेषता के रूप में पहचाना है; एक ऐसी स्थिति जो वैश्विक आर्थिक प्रणाली में परिवर्तन के कारण और भी गंभीर हो जाती है।

बदलती विश्व अर्थव्यवस्था

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, वैश्वीकरण के आर्थिक आयामों ने सबसे अधिक लोकप्रिय ध्यान आकर्षित किया है, जिनमें से अधिकांश संघर्षों की आवृत्ति और विविधता के कारण नकारात्मक रहे हैं, जिसके लिए इस प्रक्रिया को दोषी ठहराया जाता है। आर्थिक क्षेत्र भी एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें यह तर्क दिया जा सकता है कि संघर्ष ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से कुछ रचनात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया है।

सबसे पहले, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि, जैसा कि ऑस्ट्रियाई अर्थशास्त्री जोसेफ शम्पेटर (1942: 84) ने तर्क दिया, पूंजीवाद अनिवार्य रूप से "रचनात्मक विनाश" की प्रक्रिया को शामिल करता है। प्रतिस्पर्धा फर्मों को अपने प्रतिद्वंद्वियों से आगे निकलने के लिए, उत्पादों और उत्पादन दोनों में नवाचार करने के लिए प्रेरित करती है। हालाँकि, पूरे उद्योग और क्षेत्र "नष्ट" हो सकते हैं, या कम से कम हाशिए पर जा सकते हैं, क्योंकि अधिक नवीन प्रतियोगी किसी दिए गए क्षेत्र में बढ़त ले लेते हैं। उदाहरण के लिए, घोड़े और गाड़ी से ऑटोमोबाइल में या नहरों से रेलवे में बदलाव से यह प्रदर्शित होता है। उदारवादी तर्क हमेशा से यह रहा है कि, डार्विनियन तरीके के बावजूद यह प्रक्रिया "विजेता" और "हारे हुए" लोगों को जन्म देती है, समाज को उपभोक्ताओं के लिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की गुणवत्ता और श्रेणी में निरंतर सुधार से लाभ होता है। इस अर्थ में आर्थिक वैश्वीकरण को इस प्रक्रिया के तार्किक विस्तार के रूप में देखा जाता है जो एक तेजी से एकीकृत वैश्विक बाजार में है।

हालाँकि, जैसा कि मैकडवान ने जोरदार ढंग से कहा है:

हारने वाले... केवल अवैयक्तिक फर्म या अमूर्त अकुशल तकनीक नहीं हैं। वास्तविक दुनिया में, हारने वाले लोग होते हैं, कभी-कभी पूंजीपति, लेकिन हमेशा श्रमिक, व्यक्तिगत रूप से और समुदायों के रूप में। रचनात्मक विनाश का अर्थ है वास्तविक श्रमिकों की बेरोजगारी, वास्तविक समुदायों की विपन्नता, पर्यावरण का विनाश और जनता का अशक्तीकरण।

एक अर्थ में, यह हमेशा से ऐसा ही रहा है जब से पूंजीवाद ने उत्पादन की प्रमुख प्रणाली के रूप में सामंतवाद की जगह ली है। लेकिन समकालीन अवधि की विशेषता यह भी है कि सार्वजनिक व्यय के माध्यम से रोजगार को उच्च रखने या बेरोजगारी और कल्याण लाभों का भुगतान करने की सरकारों की इच्छा और क्षमता दोनों में कमी आई है, जिसने कुछ हद तक, द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद के दशकों के दौरान औद्योगिक देशों में श्रमिकों को पूंजीवाद के रचनात्मक विनाश से बचाया। बल्कि, विश्व अर्थव्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी के बढ़ते महत्व ने सरकारों को अपने देशों में "निवेश के माहौल" के बारे में अधिक चिंतित होने और यह सुनिश्चित करने के लिए मजबूर किया है कि वित्तीय बाजार उनकी व्यापक आर्थिक नीतियों को "स्वीकृति" दें।

बहुत सरल शब्दों में कहें तो, वैश्वीकरण ने पूंजी के पक्ष में आर्थिक शक्ति के

संतुलन को मौलिक रूप से बदल दिया है, जो अत्यधिक गतिशील है और इस प्रकार लाभ प्राप्त करने के लिए वहां जाने में सक्षम है; और श्रम के खिलाफ, जो बहुत कम गतिशील है (यहां तक घटके यूरोपीय संघ जैसे आर्थिक समुदाय में भी), और जिसका संगठन का आधार अभी भी अंतर्राष्ट्रीय से अधिक राष्ट्रीय है। जैसा कि एथन कैपस्टीन ने तर्क दिया है:

आज के श्रमिकों पर कार्य करने वाली शक्तियां आज की वैश्विक अर्थव्यवस्था की संरचना में निहित हैं, जिसमें एक ओर खुली और बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा है, तथा दूसरी ओर राजकोषीय रूप से रूढ़िवादी इकाइयां — राज्य — हैं...बढ़ती आय असमानता, नौकरी की असुरक्षा और बेरोजगारी को वैश्वीकरण के दूसरे पहलू के रूप में देखा जाता है (कैपस्टीन, 1996: 17)।

कैपस्टीन और मैकडवान मुख्य रूप से औद्योगिक देशों के बारे में लिख रहे हैं, लेकिन उन पूर्व "तीसरी दुनिया" देशों की स्थिति, जो नई विश्व अर्थव्यवस्था में जगह नहीं पा सके, और भी अधिक गंभीर है:

... श्रम की निरपेक्ष लागत प्रतिस्पर्धी कारक के रूप में कम और कम महत्वपूर्ण होती जा रही है (बनाम विश्व अर्थव्यवस्था में तकनीकी परिष्कार और आर्थिक एकीकरण के एक निश्चित स्तर के सापेक्ष कम श्रम लागत), कई देशों और क्षेत्रों को तेजी से गिरावट की प्रक्रिया का सामना करना पड़ रहा है जो विनाशकारी प्रतिक्रियाओं को जन्म दे सकती है। एक नई सूचनात्मक अर्थव्यवस्था के ढांचे के भीतर, दुनिया की आबादी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा शोषण की संरचनात्मक स्थिति से अप्रासंगिकता की संरचनात्मक स्थिति में स्थानांतरित हो रहा है (कास्टेल्स, 1993: 37) (जोर दिया गया)।

वे आगे बताते हैं कि ये "विनाशकारी प्रतिक्रियाएं" क्या रूप ले सकती हैं:

...पहला...आपराधिक अर्थव्यवस्था के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था के साथ नए संबंध स्थापित करना है...दूसरी प्रतिक्रिया व्यक्तिगत या सामूहिक व्यापक हिंसा के माध्यम से घोर हताशा की अभिव्यक्ति है, जिसने चौथी दुनिया के प्रमुख शहरों (और कुछ देशों में पूरे क्षेत्रों) को बर्बर, आत्म-विनाशकारी युद्धक्षेत्रों में बदल दिया है...तीसरी प्रतिक्रिया, जो चौथी दुनिया में तेजी से विकसित हो रही है... वैचारिक/धार्मिक कट्टरवाद का उदय है, जिसे आसानी से आतंकवाद और/या अर्ध-धार्मिक युद्ध के साथ जोड़ा जा सकता है (1993: 38)।

अपने तीसरे बिंदु में, कास्टेल्स ने पहले चर्चित सांस्कृतिक प्रतिक्रिया को "चौथी दुनिया" के समाजों की बिगड़ती आर्थिक स्थितियों से जोड़ा है। उनका सुझाव है कि प्रतिक्रिया के आंदोलन — चाहे वे जातीय, कट्टरपंथी या मार्क्सवादी हों, सभी की एक ही इच्छा होती है:

... 'अन्य' (अर्थात् विकसित विश्व और विकासशील विश्व में उसका तर्क) के साथ सभी सम्बन्ध तोड़ दें, क्योंकि इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि बहिष्कृत लोग कभी भी उस व्यवस्था में सच्चे भागीदार बन सकें, जो असाधारण रूप से अर्थव्यवस्थाओं को सम्मिलित करती है और कुछ हद तक समाजों को बहिष्कृत करती है (1993: 39) (जोर दिया गया)।

उल्लेखनीय बात यह है कि सामाजिक गिरावट और प्रतिक्रिया केवल तीसरी/चौथी दुनिया तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि डेवलपमेंट जीएपी संगठन के कार्यकारी निदेशक स्टीव हेलिंगर बताते हैं:

तीसरी दुनिया में एक दशक से भी ज़्यादा समय से जो सच्चाई रही है, वह अब सामने आ रही है। घटती आय, बढ़ती असमानताएँ, नौकरी की असुरक्षा, ड्रग्स, अपराध — ये वे ताकतें हैं जो उत्तरी गोलार्ध में समुदायों के सामाजिक ताने-बाने को तहस-नहस कर रही हैं (हेलिंगर, 1996)।

इसके अलावा, हेलिंगर और कैपस्टीन दोनों का तर्क है कि ऐसी परिस्थितियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोप (पश्चिमी और पूर्वी दोनों) और पूर्व सोवियत संघ में जनोन्माद के लिए उपजाऊ ज़मीन रही हैं। जैसा कि कैपस्टीन कहते हैं:

यह दावा करना सनसनीखेज नहीं है कि कामकाजी लोगों की मदद के लिए बनाई गई व्यापक-आधारित नीतियों और कार्यक्रमों की अनुपस्थिति में, संयुक्त राज्य अमेरिका और कई अन्य देशों में राजनीतिक बहस जल्द ही खट्टी हो जाएगी। विभिन्न प्रकार के लोकलुभावन और भड़काऊ लोग संरक्षणवाद और ज़ेनोफोबिया में समकालीन आर्थिक समस्याओं का 'समाधान' खोज लेंगे। वास्तव में, हर औद्योगिक राष्ट्र में, ऐसे व्यक्ति अभियान पथ पर हैं (कैपस्टीन, 1996: 17)।

ये घरेलू तनाव राज्यों के बीच संघर्ष में भी योगदान देते हैं। मुक्त व्यापार से खतरे में पड़े घरेलू निर्माता अक्सर विदेशी प्रतिस्पर्धा से कानूनी सुरक्षा के लिए अपनी सरकारों की पैरवी करते हैं। जब वे सफल होते हैं, तो राष्ट्रीय नेतृत्व को घरेलू राजनीतिक समर्थन का कुछ तत्व तो मिल जाता है, लेकिन जिस राज्य के

निर्यात प्रतिबंधित हैं, उसके साथ संबंधों में अनिवार्य रूप से कमी आती है। या, राज्य (जैसे कि यूएसए) जिनके पास विभिन्न औद्योगिक आयातों के लिए काफी खुले बाजार हैं, वे अन्य राज्यों पर दबाव डालते हैं जिन्हें पारस्परिक रूप से उतना खुला नहीं माना जाता है (जैसे कि जापान), “निष्पक्ष” व्यापार व्यवस्था के लिए – प्रतिशोध की धमकी कभी भी पृष्ठभूमि में बहुत दूर नहीं होती। क्षेत्रीय व्यापार ब्लॉकों का त्वरित निर्माण और विस्तार मुक्त व्यापार को बढ़ाने की आवश्यकता और क्षेत्रीय उत्पादकों को एक विस्तारित बाजार की गारंटी देकर पारंपरिक आर्थिक गतिविधियों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने की चिंता के बीच समान तनाव को दर्शाता है।

इस तथ्य के बावजूद कि वैश्विक मुक्त व्यापार एक पूर्ण तथ्य से बहुत दूर है, फिर भी इस बात के प्रमाण हैं कि कई सरकारों ने चरम आर्थिक राष्ट्रवाद और “अपने पड़ोसी को भिखारी बनाने” की नीतियों की वापसी से बचने की आवश्यकता को समझा है, जिन्हें अक्सर द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत में योगदान देने के रूप में चित्रित किया जाता है। यह बताता है कि अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की विशेषता एक संस्थागत संरचना है जो राजनीतिक क्षेत्र में अभी तक मौजूद किसी भी चीज़ से अधिक व्यापक है। इस संबंध में, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक हाल ही में एक और भी अधिक सुपरनैशनल संगठन, विश्व व्यापार संगठन से जुड़ गए हैं, जिसके पास एक अच्छी तरह से विकसित विवाद निपटान तंत्र है और उन सदस्य राज्यों पर पर्याप्त दंड लगाने का अधिकार है जो इसके निर्णयों का उल्लंघन करते हैं। ये घटनाक्रम दर्शाते हैं कि आर्थिक मामलों की एक विस्तृत श्रृंखला के संबंध में, दुनिया के कई राजनीतिक और आर्थिक अभिजात वर्ग ने निष्कर्ष निकाला है कि इन संगठनों के अधीन होने के लाभ अधिक स्वतंत्र नीति के लाभों से अधिक हैं।

वैश्विक सामूहिक कार्रवाई में इस तरह की प्रगति को अन्य क्षेत्रों में इसी तरह की पहल के अग्रदूत के रूप में देखा जा सकता है। हालाँकि, रोसेनौ के “वैश्विक प्राधिकरण संकट” को ध्यान में रखा जाना चाहिए। दुनिया भर में औसत लोगों को लगता है कि उन्हें आर्थिक वैश्वीकरण से नुकसान हुआ है, और वे कई समकालीन अंतरराष्ट्रीय “व्यापार सौदों” के पीछे की बुद्धिमत्ता और प्रेरणा के बारे में तेजी से संदिग्ध होते जा रहे हैं। इसलिए, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मुक्त व्यापार को बढ़ावा देना एक विभाजनकारी राजनीतिक मुद्दा बन गया है। उदाहरण के लिए, लेखन के समय, बैंक ऑफ बोस्टन द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला

कि 51 प्रतिशत अमेरिकी नागरिकों का मानना था कि मुक्त व्यापार समझौतों से अमेरिकी नौकरियां खत्म हो जाती हैं और 57 प्रतिशत लैटिन अमेरिका के साथ किसी भी नए व्यापार समझौते का विरोध करते हैं। इसके अलावा, 73 प्रतिशत चाहते थे कि किसी भी नए व्यापार समझौते के लिए बातचीत में श्रम और पर्यावरण संबंधी मुद्दे शामिल हों।

समकालीन घटनाओं से पता चलता है कि यह संदेह दुनिया के अन्य हिस्सों में भी साझा किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों पर विचार करें:

तेजी से उदारीकरण की ओर अग्रसर मेक्सिको के चियापास क्षेत्र में जापतिस्ता विद्रोह, जो जनवरी 1994 से, मुख्य रूप से मायान और बड़े पैमाने पर वंचित, क्षेत्र के भारतीय किसानों के लिए भूमि और सामाजिक न्याय की मांग कर रहा है;

फ्रांसीसी सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों द्वारा व्यापक हड़तालें, जो 1995 में यूरोपीय मॉट्रिक संघ में प्रवेश के लिए तथाकथित "मास्ट्रिच दिशानिर्देशों" के अनुरूप सार्वजनिक व्यय में कटौती करने की सरकार की योजनाओं के कारण भड़की थीं;

नवंबर 1996 में मनीला, फिलीपींस में एशियाई-प्रशांत आर्थिक सहयोग मंच की पूर्व संध्या पर, प्रशांत क्षेत्र में एक व्यापक मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने की योजना के खिलाफ पूरे प्रशांत क्षेत्र से गैर-सरकारी संगठनों और अन्य समूहों द्वारा विरोध और प्रदर्शन; या,

निर्माण उद्योग में बेरोजगारी और विदेशी श्रमिकों (जो कम वेतन पर काम करते हैं) के आगमन के खिलाफ मार्च 1997 के मध्य में जर्मन निर्माण क्षेत्र ट्रेड यूनियन आईजी बाउ द्वारा व्यापक हड़तालें और प्रदर्शन ये कुछ उदाहरण रोलांड रॉबर्टसन द्वारा उठाए गए एक बिंदु को उजागर करते हैं जब उन्होंने तर्क दिया कि दुनिया पहले से ही एकजुट है, लेकिन यह एकीकृत नहीं है (रॉबर्टसन, 1992)। एक ओर, समस्याओं और सामयिक चिंताओं को वैश्विक शब्दों में व्यक्त किया जाता है, जबकि दूसरी ओर, उनके समाधान के दृष्टिकोण टुकड़ों में, रुक-रुक कर और आम तौर पर पहचान और हित की अलग-अलग अवधारणाओं द्वारा बाधित होते हैं। इन सभी से पता चलता है कि एक विश्व समाज जो भौतिक रूप से अधिक से अधिक परस्पर जुड़ा हुआ है, जबकि मौलिक मूल्यों और प्राथमिकताओं पर आम

सहमति का अभाव है, संघर्षों से फटा हुआ हो सकता है "... राष्ट्रों के बीच पिछले विवादों की तुलना में अधिक कठिन" (वाटर्स, 1995: 46)।

संघर्षों का विश्लेषण: बर्टन और बुनियादी ज़रूरतें

जैसा कि हमने देखा है, वैश्वीकरण रचनात्मक और विनाशकारी दोनों प्रतीत होता है; लेकिन इसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रभावों को अलग करना एक मांगलिक और विवादास्पद अभ्यास है। एक वैचारिक ढांचा जो इस समस्या में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है वह है मानवीय आवश्यकता सिद्धांत जिसे जॉन बर्टन ने सामाजिक संघर्ष के अध्ययन में लागू किया है। बर्टन बताते हैं कि संघर्ष का विश्लेषण करते समय व्यक्ति को आवश्यकताओं, मूल्यों और हितों के बीच अंतर करना चाहिए। विवादों को हल करने की कोशिश में यह समझना चाहिए कि केवल अल्पावधि में ही हितों पर बातचीत की जा सकती है; जबकि मूल्य केवल सुरक्षा और गैर-भेदभाव के माहौल में दीर्घावधि में ही बदल सकते हैं, और किसी भी परिस्थिति में ज़रूरतों पर बातचीत नहीं की जा सकती (बर्टन, 1990: 36-41)। इस सूत्रीकरण के निहितार्थ दूरगामी हैं। उदाहरण के लिए, यह सुझाव देता है: "... कि मानव व्यक्ति, अलग-अलग या व्यापक जातीय या राष्ट्रीय समुदाय के भीतर कार्य करते हुए, किस सीमा तक समाजीकृत या हेरफेर किया जा सकता है, इसकी सीमाएँ हैं..."; और "...मानव विकास की कुछ आवश्यकताएँ हैं जिन्हें संस्थाओं द्वारा संतुष्ट किया जाना चाहिए और पूरा किया जाना चाहिए, यदि इन संस्थाओं को स्थिर रहना है, और यदि समाजों को संघर्ष से मुक्त रखना है"।

यह स्वीकार करते हुए कि इस शोध क्षेत्र में अभी भी केवल सीमित सहमति है, बर्टन आवश्यकताओं की एक प्रशंसनीय सूची प्रस्तुत करता है। सबसे पहले, मनुष्य को सुरक्षा और पहचान की भावना की आवश्यकता होती है। दूसरा, चूँकि हमारे पास सीखने की एक सामान्य इच्छा है, इसलिए हमें पर्यावरण से एक सुसंगत प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसके बिना सीखना असंभव है। तीसरा, अपने सामाजिक संदर्भ से लोगों को मान्यता और मूल्यवान संबंधों, या बंधन दोनों की आवश्यकता होती है। अंत में, और शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्तियों को यह सुनिश्चित करने के लिए अपने पर्यावरण पर (कुछ) नियंत्रण की आवश्यकता होती है कि उनकी ज़रूरतें पूरी हों।

इस दृष्टिकोण के सामाजिक संस्थाओं के लिए महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। यदि, संतुलन पर, आवश्यकताएँ, चाहे वे जो भी निर्धारित की गई हों, किसी संस्था के

भीतर पूरी की जा रही हैं, तो संस्था को समर्थन प्राप्त होता है और उसे समेकित और स्थायी किया जाता है। हालाँकि, यदि आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती हैं, तो संस्था समर्थन और वैधता खो देती है, और बढ़ते विरोध का सामना करती है। बाद के मामले में, अधिकारी दमन और जबरदस्ती के साथ प्रतिक्रिया करते हैं, लेकिन यदि किसी संस्था को पर्याप्त लोगों के लिए "अवैध" बना दिया जाता है, तो इस तरह से संघर्ष का समाधान नहीं किया जा सकता है। इसके बजाय, संस्थागत संरचनाओं को, जल्दी या बाद में, उन लोगों की आवश्यकताओं को पूरी तरह से समायोजित करने के लिए विकसित होना होगा, जिन्हें वे प्रभावित करते हैं। यदि किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था को समाज के केवल एक हिस्से के लिए वैध बनाया जाता है, तो कोई यह उम्मीद कर सकता है कि, सक्षम परिस्थितियों को देखते हुए, जिनकी ज़रूरतें पूरी नहीं होती हैं, वे प्रतिक्रिया करेंगे। बर्टन इस हद तक दावा करते हैं कि आधुनिक समाजों में यह सामान्य स्थिति बन गई है, यह तर्क देते हुए कि:

सभी आधुनिक समाजों में मानवीय ज़रूरतें बड़े पैमाने पर निराश हो रही हैं, और निराशा को नियंत्रित करने के लिए जितना ज़्यादा कानून और व्यवस्था लागू की जाती है, निराशा उतनी ही बढ़ती जाती है। अब सबसे ज़्यादा वैध अधिकारियों की वैधता के बारे में भी व्यापक चिंता है। कई अलग-अलग समाजों में कई तरह के विरोध आंदोलनों के सदस्य और अपेक्षाकृत विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों से आने वाले आतंकवादी यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि सभी राजनीतिक प्रकारों के समाजों की कुछ विशेषताएँ हैं, जो उनमें शामिल लोगों की एक बड़ी संख्या को अस्वीकार्य हैं (1990: 98)।

उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार यह विभिन्न प्रकार के विचलित व्यवहार को जन्म देता है, क्योंकि "...वंचना अक्सर अति प्रतिक्रिया को जन्म देती है, और व्यक्ति आवश्यकताओं की संतुष्टि के सामान्य प्रयास से आगे बढ़ जाता है...", और अति प्रतिक्रिया जो किसी न किसी रूप में अतिवाद में अपना रास्ता खोज लेती है (1990: 99)।

यह वैचारिक ढाँचा वैश्वीकरण के संघर्षों के विभिन्न पहलुओं को उजागर करता है। सबसे पहले, हम देख सकते हैं कि संघर्ष के सभी तीन प्रकार "दांव" — यानी ज़रूरतें, मूल्य और हित — खेल में आते हैं। हालाँकि, जैसा कि बर्टन खुद बताते हैं, किसी भी संघर्ष में, जैसे कि बेहतर कामकाजी परिस्थितियों को लेकर

हड़ताल, किसी को इस संभावना पर विचार करना होगा कि यह वास्तव में बुनियादी जरूरतों (शायद मान्यता, मूल्यवान संबंध, या नियंत्रण) के अधिक सामान्य अभाव के कारण होता है, जिसे अंततः संबोधित करना होगा यदि भविष्य में उत्पादन में और व्यवधानों से बचना है।

दूसरा, जैसा कि हमने देखा है, ऐसे संकेत हैं कि आर्थिक और सांस्कृतिक वैश्वीकरण के कई समकालीन प्रभावों को दुनिया भर में लोकलुभावन समूहों की बढ़ती संख्या और विविधता द्वारा वैध नहीं माना जाता है। यदि बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के साधनों को वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा नष्ट होते देखा जाता है, तो प्रतिक्रिया, अस्वीकृति और बढ़ती शत्रुता की उम्मीद की जानी चाहिए। इस प्रकार, वैश्विक दक्षिण में वैश्वीकरण ने पश्चिमी आर्थिक और सांस्कृतिक वर्चस्व के लिए एक बाधा के रूप में राज्य को कमजोर कर दिया है, जिससे भेद्यता की और भी तीव्र भावना पैदा हुई है, और उत्तर में समुदाय (यानी मूल्यवान संबंध और पहचान) और आर्थिक सुरक्षा के लिए खतरे के रूप में आर्थिक वैश्वीकरण की एक लोकप्रिय धारणा ने ज़ेनोफोबिक और संरक्षणवादी अतिवाद के प्रति ग्रहणशीलता को बढ़ा दिया है।

संक्षेप में, बर्टन का काम इंगित करता है कि, विचारधारा को छोड़कर, वैश्वीकरण अपने समकालीन रूप में अनिश्चित काल तक जारी नहीं रह सकता है। या तो राष्ट्रीय और वैश्विक शासन की प्रक्रियाएँ उन समूहों की बुनियादी जरूरतों और मूल्यों को बेहतर ढंग से समायोजित करने के लिए विकसित होंगी जो वर्तमान परिवर्तन के पैटर्न के खिलाफ लामबंद हो रहे हैं, या व्यवधान और प्रतिक्रिया की आवृत्ति और तीव्रता अप्रत्याशित, लेकिन निश्चित रूप से नकारात्मक, अल्पकालिक से मध्यम अवधि के प्रभावों के साथ तेज होती रहेगी। दोनों परिदृश्य यह संकेत देते हैं कि एकमात्र स्थिर चीज़ परिवर्तन ही है।

वैश्वीकरण बनाम वैश्विकता

वैश्वीकरण और इसके संघर्षों के बारे में विचारों में भिन्नता के बावजूद, इस बहस में पहली नज़र में दिखने वाले से कहीं ज़्यादा समानताएँ हैं। सभी पार्टियाँ (चाहे उत्तर या दक्षिण, सरकारी या गैर-सरकारी, वामपंथी या दक्षिणपंथी) स्वीकार करती हैं कि संघर्ष निम्नलिखित स्थितियों से संबंधित हैं:

वैश्विक परिवर्तन की गति तेज़ हो रही है;

यह परिवर्तन व्यक्तियों, सामाजिक संस्थाओं (जैसे परिवार) और सरकारों पर बहुत अधिक दबाव डालता है;

व्यक्तियों और समाजों को परिवर्तन के साथ तालमेल बिठाने में मदद करने के लिए कुछ किया जाना चाहिए;

अब तक उठाए गए कदमों से कथित समस्याओं का पर्याप्त समाधान नहीं हो पाया है।

ये बिंदु पुराने प्रश्नों के बारे में नई सोच की आवश्यकता को इंगित करते हैं, और इस अर्थ में, वैश्वीकरण के मुद्दे विश्व व्यवस्था के मुद्दे हैं। जैसा कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति और समाज की मौजूदा संस्थाओं ने इन मुद्दों का सामना किया है, राजनीतिक दर्शन के बुनियादी सवाल जो सत्ता, अधिकार और वितरण न्याय से संबंधित हैं — जो 18वीं और 19वीं शताब्दियों में राष्ट्र-राज्य के लिए कुछ हद तक हल हो गए थे — फिर से तेजी से उठाए जा रहे हैं, लेकिन इस बार ग्रह को एक एकल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के रूप में देखते हुए। फिर से, कुछ हद तक विरोधाभासी रूप से, वैश्वीकरण ग्रह के बारे में “एक स्थान” के रूप में बढ़ती जागरूकता पैदा करके ऐसी नई सोच के लिए एक आधार तैयार करता है, एक दृष्टिकोण जिसे कुछ लोगों ने वैश्विकता कहा है। उदाहरण के लिए, मार्क रिची वैश्विकता को इस प्रकार परिभाषित करते हैं:

...यह विश्वास कि हम एक नाजुक ग्रह को साझा करते हैं, जिसके अस्तित्व के लिए सभी लोगों और पर्यावरण के प्रति परस्पर सम्मान और सावधानीपूर्वक व्यवहार की आवश्यकता है। वैश्विकता भी मूल्यों और नैतिक मान्यताओं का एक समूह है, जिसका हमारे दैनिक जीवन में सक्रिय अभ्यास की आवश्यकता होती है। समझ को बढ़ावा देने के लिए सक्रिय संचार, समानता और स्थिरता के आधार पर संसाधनों का साझाकरण, और ज़रूरत के समय आपसी सहायता तीन केंद्रीय गतिविधियाँ हैं जो वैश्विकता को रेखांकित करती हैं (रिची, 1996)।

वैश्विकतावादी सोच इस धारणा से विकसित होती है कि विश्व लगातार एक-दूसरे पर निर्भर और एकीकृत होता जा रहा है — एक प्रवृत्ति जो जैवमंडल के नाजुक संतुलन, संचार और परिवहन की विश्वव्यापी प्रणालियों के उद्भव और आधुनिक हथियारों की विनाशकारी शक्ति जैसी विविध घटनाओं में परिलक्षित होती है (बहाई अंतर्राष्ट्रीय समुदाय, 1995: 2)।

रिची ने आगे कहा कि वैश्वीकरण के नकारात्मक आयाम अभूतपूर्व संकट (जैसे ओजोन परत का क्षरण, जलवायु परिवर्तन और बड़े पैमाने पर पलायन) पैदा कर रहे हैं और इन मुद्दों से निपटने के लिए सीमाओं के पार सहयोग करने की राज्यों और लोगों की क्षमता को कम कर रहे हैं। उनके लिए:

वैश्विकता — यह विश्वास कि प्रत्येक पड़ोसी की भलाई, चाहे वह कितनी भी दूर क्यों न हो, हम सभी को प्रभावित करती है — बेलगाम वैश्वीकरण, विशेष रूप से युद्ध की राजनीतिक हिंसा और अपराध, नस्लवाद और विदेशी-द्वेष की व्यक्तिगत हिंसा (1996) के कारण उत्पन्न पारिस्थितिक और सामाजिक अव्यवस्था के स्तर से निपटने के लिए हमारे पास अभी भी एकमात्र हथियार है।

अंत में, रिची के अनुसार, वैश्वीकरण की नकारात्मक प्रवृत्तियों के प्रति रचनात्मक प्रतिक्रिया में जितनी देरी होगी, यह उतना ही कठिन होता जाएगा:

चूंकि वैश्वीकरण गरीबी और भूख को बढ़ाता है, इसलिए यह अनैच्छिक प्रवास को बढ़ावा देता है, जिसके परिणामस्वरूप नस्लवाद और अप्रवासियों के प्रति भय पैदा हो सकता है। इस तरह, वैश्वीकरण वैश्विकता, ग्रह के चारों ओर पड़ोसियों के साथ प्रेम और चिंता की भावनाओं को नष्ट कर देता है, जबकि आर्थिक और पारिस्थितिक स्थितियां पैदा करता है जो कम नहीं बल्कि अधिक वैश्विकता की मांग करते हैं (1996)।

हालाँकि, "ग्लोबल एजेंडा" के सबसे निष्पक्ष विश्लेषण में अधिक घनिष्ठ अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की बात कही गई है, लेकिन आवश्यक कार्यों के लिए पर्याप्त नेतृत्व अभी तक सामने नहीं आया है। वैश्विक शासन आयोग ने इस मामले को इस तरह से रखा:

राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, समुदायों के भीतर और गैर-सरकारी निकायों में, दुनिया को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो सक्रिय हो, न कि केवल प्रतिक्रियात्मक, जो प्रेरित हो, न कि केवल कार्यात्मक, जो दीर्घकालिक और भविष्य की पीढ़ियों को देखता हो, जिनके लिए वर्तमान को भरोसे में रखा जाता है...यह नेतृत्व घरेलू दीवारों तक सीमित नहीं हो सकता। इसे देश, जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा, जीवन-शैली से परे जाना चाहिए। इसे व्यापक मानवीय निर्वाचन क्षेत्र को अपनाना चाहिए, दूसरों की देखभाल करने की भावना, वैश्विक पड़ोस के प्रति जिम्मेदारी की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए (कमीशन ऑन ग्लोबल गवर्नेंस,

1995: 353)।

यदि राजनीतिक नेतृत्व, जैसा कि अक्सर दावा किया जाता है, वैश्वीकरण को आगे बढ़ाने वाले वित्तीय, वाणिज्यिक और रणनीतिक हितों के अधीन है, तो वैश्विक पहल मुख्य रूप से नागरिक समाज से आती रहेगी, दोनों राज्यों के भीतर और अन्तरराष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से, और जिस हद तक निहित हितों को चुनौती दी जाती है, ऐसी पहल आगे टकराव और संघर्ष को बढ़ावा देगी। यह वह बिंदु है जिसे रिचर्ड फॉक ने उठाया है जब वह तर्क देते हैं कि "ऊपर" से वैश्वीकरण का मुकाबला करने के लिए "नीचे" से वैश्विकता आवश्यक है (फॉक, 1995)।

6

गुटनिरपेक्षता

गुटनिरपेक्षता वास्तव में कोई निष्क्रियता नहीं है बल्कि यह एक सक्रिय और स्वतंत्र सिद्धान्त है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में होने वाली घटनाओं के प्रति चुप्पी लगाकर बैठना नहीं बल्कि उनमें न्यायपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लेना है।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ

गुट-निरपेक्षता का सामान्य अर्थ है "विभिन्न शक्ति से तटस्थ या अलग रहते हुए स्वतंत्र विदेश नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार न्याय का समर्थन करना।" गुटनिरपेक्षता शक्ति गुटों से अलग रहने की नीति पर चलने वाला देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी शक्ति गुट अथवा खेमे के साथ बँधा हुआ नहीं है। उसका अपना सत्य न्याय औचित्य एवं शक्ति पर आधारित स्वतंत्र मार्ग है।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में "तटस्थता" नहीं है। गुटनिरपेक्षता देश विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रहते, बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति का अनुसरण करते हैं जिससे विश्व में शांति स्थापित हो सके।

गुटनिरपेक्षता का सरल अर्थ है कि विभिन्न शक्ति गुटों से तटस्थ या दूर रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार सही या न्याय का साथ देना। आंख बंद करके गुटों से अलग रहना गुटनिरपेक्षता नहीं हो सकती गुटनिरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत में अन्तर करके सदा सही नीति का समर्थन करना।

जार्ज लिस्का ने इसका सही अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि सबसे पहले यह

बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है। इसका अर्थ है उचित और अनुचित का भेद जानकर उचित का साथ देना। गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह बताना जरूरी है कि गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है?

गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है

तटस्थता शब्द का प्रयोग प्रायः युद्ध के समय किया जाता है।

शान्तिकाल में भी यह एक प्रकार से युद्ध की मनोवृत्ति को प्रकट करती है। यह उदासीनता का दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह एक प्रकार की नकारात्मक प्रवृत्ति है। जबकि गुटनिरपेक्षता का विचार सक्रिय एवं सकारात्मक है। इससे विश्व समस्याओं का बिना गुटों के भी समाधान किया जा सकता है। इस तरह गुटनिरपेक्षता एक सक्रिय विचार है गुट निरपेक्षता युद्धों में शामिल होकर भी बरकरार रहती है। भारत को चीन और पाकिस्तान के साथ युद्ध करने पड़े फिर वह गुटनिरपेक्ष देश है। तटस्थता युद्धों में भाग लेने पर समाप्त हो जाती है। स्वीटज़रलैंड एक तटस्थ देश है क्योंकि वह न तो किसी युद्ध में शामिल हुआ है और न ही उसे किसी सैनिक संगठन की सदस्यता प्राप्त है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थता की नीति नहीं है।

गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या पृथक्कतावाद नहीं है

पृथक्कवाद का अर्थ होता है प्रायः अपने को दूसरे देशों की समस्याओं से दूर रखना। अमेरिका ने प्रथम विश्व युद्ध से पहले इसी नीति का पालन किया। लेकिन गुटनिरपेक्षता अलगाववाद की नीति नहीं है। गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं में स्वयं रुचि लेने व सक्रिय भूमिका निभाने की नीति है। उदाहरण के लिए भारत ने शीत युद्ध में किसी गुट में शामिल न होकर भी इस समस्या के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया और दोनों गुटों में तनाव कम कराने के प्रयास भी किए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता तटस्थतावाद तथा अलगाववाद की नीति नहीं है। यह एक ऐसी नीति है जो सैनिक गुटों से दूर रहते हुए भी उनके काफी निकट है।

गुट निरपेक्ष देश कौन हैं?

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ जानने के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के तीन कर्णधारों पंडित जवाहर लाल नेहरू, नासिर व टीटो के विचारों को जानना आवश्यक है। इन तीनों नेताओं ने 1961 में गुटनिरपेक्षता को सही रूप में

परिभाषित करने वाले निम्नलिखित 5 सिद्धान्त विश्व के सामने रखे—

1. जो राष्ट्र किसी सैनिक गुट का सदस्य नहीं हो।
2. जिसकी अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति हो।
3. जो किसी महाशक्ति से द्विपक्षीय समझौता न करता हो।
4. जो अपने क्षेत्र में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न देता हो।
5. जो उपनिवेशवाद का विरोधी हो।

इस सिद्धान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऐसा देश जो सैनिक गुटों से दूर रहकर स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करता हो और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक हो गुट निरपेक्ष देश कहलाता है।

भारत की गुटनिरपेक्षता नीति के सिद्धांत

विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की भूमिका हमेशा से ही असंलग्नता गुटनिरपेक्षता की रही हैं। गुटनिरपेक्षता गुटों की पूर्व उपस्थित का संकेत कर देती है। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसने पाया कि विश्व की राजनीति दो विरोधी गुटों में बँट चुकी हैं। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरे सोवियत संघ था। विश्व के अधिकांश राष्ट्र दो विरोधी खेमों में विभाजित हो गये और भीषण शीत-युद्ध प्रारंभ हो गया। शीत-युद्ध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और इसके साथ-साथ एक तीसरे महासमर की तैयारी होने लगी। अतः भारत ने दोनों गुटों से पृथक रहने की जो नीति अपनायी उसे "गुटनिरपेक्षता" की नीति के नाम से जाना जाता है।

इस नीति का आशय है कि भारत वर्तमान विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी में से भी शामिल नहीं होगा, किन्तु अलग रहते हुए उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने की चेष्टा करेगा और उनकी बिना शर्त सहायता से अपने विकास में तत्पर रहेगा। यह गुटनिरपेक्षता नकारात्मक तटस्थता, अप्रगतिशीलता अथवा उपदेशात्मक नीति नहीं है। इसका अर्थ सकारात्मक है अर्थात् जो सही और न्यायसंगत हैं।

गुटनिरपेक्षता का अर्थ है विश्व के किसी भी गुट के साथ जुड़ा हुआ न होना, अर्थात् नाटो, सीटो या वारसा संगठनों जैसे किसी सैनिक गठबंधन में शामिल न

होना। यह ऐसी नीति है जो विश्व में स्वतंत्र नीति का अनुसरण करती है और हर समस्या पर अपने विचारों को प्रकट करने और अपने दृष्टिकोण को अपनाने के लिए स्वतंत्र समझती है। यह किन्हीं पूर्वाग्रहों के आधारों पर कार्य नहीं करती। यह समस्याओं पर वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाती है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं। भारत की यह गुट-निरपेक्षता पलायनवाद की नीति भी नहीं है। एशिया के प्रमुख राष्ट्र के रूप में भारत अपने उत्तरदायित्व से कभी बचना नहीं चाहता। किसी भी विवाद के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए भारत की मध्यस्थता की सेवाएँ सदैव उपलब्ध रही हैं।

गुटनिरपेक्षता के उदय/विकास के कारण

गुटनिरपेक्षता के विकास के निम्नलिखित कारण हैं—

1. राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना

एशिया व अफ्रीका के राष्ट्र लम्बे समय तक उपनिवेशवाद के शिकार रहे। यहाँ के राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रवाद की भावना को प्रज्ज्वलित कर स्वाधीनता का संघर्ष किया और साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद को जड़ से उखाड़कर स्वाधीनता प्राप्त की। ऐसे राष्ट्र अब किसी भी कीमत पर अपने स्वाधीनता को खोने नहीं चाहते थे। इसलिए वह महाशक्तियों के किसी गुट में सम्मिलित होने से अपने को बचाना चाहते थे।

2. महान नेताओं का नेतृत्व

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में गुटनिरपेक्षता देशों को विश्व स्तर के नेताओं का नेतृत्व प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। जवाहरलाल नेहरू, जोसिफ ब्रोज टीटो, अब्दुल गाथेर नासिर, एन्कुमा, सुकर्ण आदि ऐसे ही विश्व स्तर के महान नेता थे जिनके नेतृत्व में गुटनिरपेक्षता आन्दोलन को नेतृत्व मिला।

3. आर्थिक कारण

गुटनिरपेक्षता राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के समय आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़े हुए थे। गरीब, बेरोजगारी, भुखमरी इन राष्ट्रों में व्याप्त थी। स्वतंत्रता के पश्चात् इन्हें अपने आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, जो इन्हें बिना किसी गुट में सम्मिलित हुए ही प्राप्त हो सकती थी।

4. विश्व शांति की स्थापना

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात महाशक्तियों के चल रहे शीत युद्ध से दूर रहकर वे अपना विकास करना चाहते थे जो शांतिपूर्ण स्थिति में ही सम्भव हो सकता था। इसलिए नवोदित राष्ट्रों ने गुटों से अगल रहकर विश्व रहकर शांति स्थापना के लिए गुट-निपेक्षता आन्दोलन को बल दिया।

5. जातीय एवं सांस्कृतिक कारण

गुटनिरपेक्षता की नीति एक जातीय और सांस्कृतिक पहलू भी हैं। इस नीति के समर्थक मुख्यतः एशिया और अफ्रीका के वे देश हैं जिनका यूरोपीय राष्ट्रों ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता की कड़ियाँ यद्यपि मजबूत नहीं हैं तथापि इसमें सभी एकमत हैं कि वे किसी भी बड़ी शक्ति के अधीन न रहें।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की चुनौतियाँ अथवा समस्याएँ

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को आज अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

(1) सैनिक दबाव—

महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्ष देशों पर सैनिक दबाव डालती रहती हैं। अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने के लिए महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने वाले देशों को अपने सैनिक संगठनों के माध्यम से घेरने की कोशिश करती हैं। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश के विरुद्ध अमेरिका पाकिस्तान को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करता रहा है।

(2) गुटनिरपेक्ष देशों में पारस्परिक तनाव एवं वैमनस्य—

गुटनिरपेक्ष देश पर्याप्त रूप से संगठित नहीं हैं। उनमें तनाव और भयंकर विवाद उभरते रहे हैं। उदाहरण के लिए, भारत और बांग्लादेश, दोनों ही गुटनिरपेक्षता के समर्थक हैं। लेकिन कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बांग्लादेश ने भारत के साथ गंगा के पानी के बँटवारे के प्रश्न को उठाकर दुनिया के सामने अपने आपसी तनाव का ही प्रकटीकरण किया।

(3) गुटनिरपेक्ष देशों में अस्थिरता उत्पन्न करना—

महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्ष देशों में हस्तक्षेप करती रहती हैं और अपने गुप्तचरों

के माध्यम से अस्थिरता लाने के प्रयास करती हैं। क्यूबा जैसे गुटनिरपेक्ष देशों में अमेरिका ने सी. आई. ए. के माध्यम से फिदेल कास्त्रो सरकार को गिराने की बार-बार कोशिश की। चिली के राष्ट्रपति रुलेण्डे की हत्या में सी.आई.ए.का हाथ था।

(4) यह मात्र एक नैतिक आन्दोलन है—

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नैतिक अपील—सा लगता है। यह मानवता की रक्षा की आवाज बुलन्द कर सकता है, किन्तु शस्त्रों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं कर सकता, आक्रमणों का प्रतिरोध नहीं कर सकता। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप की प्रत्यक्षतः भर्त्सना नहीं कर सका।

(5) आर्थिक पिछड़ापन—

गुटनिरपेक्ष देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इन देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए महाशक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। महाशक्तियाँ आर्थिक लालच देकर इन छोटे और कमजोर गुटनिरपेक्ष देशों का शोषण करती हैं। वे इन्हें आर्थिक सहायता का लुभावना मोह दिखाकर उन्हें अपने गुट में बाँधने का प्रयत्न करती हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य

सिद्धान्ततः गुटनिरपेक्षता एक आदर्शवादी नीति है, परन्तु गुटनिरपेक्षता उसी स्थिति में उचित थी जब विश्व दो गुटों में विभाजित था। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् विश्व का सम्पूर्ण राजनीतिक परिदृश्य बदल चुका है। विश्व में गुटों के राजनीति खत्म हो चुकी है। सैनिक गठबन्धन टूट रहे हैं। अमेरिका वर्तमान एकध्रुवीय विश्व का सर्वमान्य नेता है। वह समस्त विश्व पर अपनी दादागीरी दिखा रहा है। विगत कुछ वर्षों से गुटनिरपेक्ष आन्दोलन निर्जीव पड़ गया है।

शीत युद्ध की समाप्ति (सोवियत संघ के विघटन) के पश्चात् प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि एकध्रुवीय व्यवस्था में गुटनिरपेक्षता अथवा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसी संस्था की क्या उपयोगिता है? यह प्रश्न इसलिए किया जाता है क्योंकि इस आन्दोलन का जन्म शीत युद्ध की राजनीति के प्रतिक्रियास्वरूप ही हुआ था।

एक आलोचक के अनुसार, कहने को निर्गुट राष्ट्रों के आन्दोलन में अब भी सौ से अधिक देश हैं, परन्तु वे हैं इस समय बिल्कुल बेबस। उनमें पहले भी कोई

विशेष दमखम नहीं था। परन्तु शीत युद्ध के चलते दोनों महाशक्तियाँ कम-से-कम इनकी बात अवश्य सुन लेती थीं। अब इस आन्दोलन की इतनी पूछ भी नहीं है। हाँ, निर्गुट आन्दोलन की बैठकें बराबर हो रही हैं। परन्तु इसके सदस्य देशों की माली (आर्थिक) हालत इतनी नाजुक है कि इनके नेता हर समय विश्व बैंक से कर्ज की अर्जी लिए वाशिंगटन में मौजूद रहते हैं। विश्व बैंक में अकेले अमेरिका का सर्वाधिक 20 प्रतिशत हिस्सा है। उसकी मर्जी के बिना वहाँ से कौड़ी भी नसीब नहीं हो सकती। इसलिए ये देश फिलहाल अमेरिका के सामने खड़े होने की हैसियत में नहीं हैं। आर्थिक तंगी, भ्रष्टाचार, बढ़ती हुई गरीबी और जन-असन्तोष के कारण निर्गुट आन्दोलन के देश राजनीतिक अस्थिरता से पीड़ित हैं, इसलिए यह आन्दोलन मृत है।” सन् 1992 में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों की बैठक में मिस्त्र ने इस आन्दोलन को समाप्त करने की अपील की थी। उसका तर्क था कि सोवियत संघ के विघटन और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है।

परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद इस आन्दोलन की उपयोगिता समाप्त हो गई है, वे गलती पर हैं, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक सकारात्मक प्रयास भी है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में गुटनिरपेक्ष देश का आशय उस देश से लिया जाता था जो संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ, दोनों में से किसी से राजनीतिक और सैनिक रूप से न जुड़ा हो। परन्तु यह भी ठीक है कि कालान्तर में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल राष्ट्र उपर्युक्त शर्त का पालन नहीं कर सके, क्योंकि इस आन्दोलन के सदस्य देश नव-स्वतन्त्र राष्ट्र थे, जिन्हें अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिए दोनों महाशक्तियों में से किसी की भी सहायता की आवश्यकता थी। स्वयं भारत ने सन् 1971 में सोवियत संघ से 20-वर्षीय सन्धि की थी। इसलिए गुटनिरपेक्ष राष्ट्र का अर्थ अमेरिका या सोवियत संघ से पृथक् रहना नहीं, वरन् वह राष्ट्र माना गया जिसकी विदेश नीति स्वतन्त्र हो और उसका निर्माण बिना किसी बाह्य दबाव के किया गया हो। आज गुटनिरपेक्ष राष्ट्र को यही अवधारणा है और ऐसी स्थिति में विश्व के एक ध्रुवीय अथवा द्विध्रुवीय होने से गुटनिरपेक्षता की उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शीत युद्ध समाप्त तो नहीं हुआ है, वरन् उसने दूसरा स्वरूप धारण कर लिया है। यदि मान भी लिया जाए कि शीत युद्ध समाप्त हो गया है, तो भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उपयोगिता बनी रहेगी। एशिया में

संयुक्त राज्य अमेरिका की बढ़ती रुचि के सम्बन्ध में गुटनिरपेक्ष देशों का विश्वव्यापी महत्त्व हो जाता है। अमेरिका एशिया को सामरिक शस्त्रीकरण के दायरे में घसीटना चाहता है और वहाँ अपने नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र तैनात करना चाहता है। यह बात छिपी नहीं है कि अमेरिका एशियाई देशों को अपनी आक्रमणकारी योजनाओं का लक्ष्य बनाना चाहता है। यही कारण है कि वह एशिया के वर्तमान तनावों से लाभ उठाने का अवसर देखता है और नये तनाव उत्पन्न करना चाहता है। ऐसी स्थिति में शान्ति, तटस्थता और नाभिकीय मुक्त क्षेत्र की स्थापना के लिए इस आन्दोलन का महत्त्व बढ़ जाता है।

निष्कर्षमय में हम कर सकते हैं कि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद भी विश्व एक नीति और आन्दोलन दोनों रूपों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का महत्त्व बना रहेगा। राजनीतिक और आर्थिक, दोनों क्षेत्रों में इस आन्दोलन की महना बनी रहेगी। सोवियत संघ के विघटन के बाद यह बात बार—बार उभरी कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का कोई औचित्य नहीं रह गया है। जब दो महाशक्तियाँ नहीं हैं, तो इस आन्दोलन की क्या आवश्यकता है। परन्तु इस आन्दोलन के अधिकांश सदस्य देशों ने इस बात को नकार दिया है। उनका कहना है कि पहले दो शक्तियों परस्पर टकराती थी, अब जबकि केवल एक ही शक्ति बची है, तो उसकी दादागिरी का खतरा और बढ़ गया है। अतः इस संगठन को समाप्त करने के बजाय और अधिक मजबूत बनाने की आवश्यकता है।

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ

विभिन्न गुट—निरपेक्ष सम्मेलनों में अलग—अलग विषयों पर व्यापक चर्चा की गई और उनकी दिशा में सकारात्मक प्रयास भी किए गए। निर्गुट—शिखर सम्मेलनों के कुछ सकारात्मक परिणाम निकले जो हैं—

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि— गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए। गुटनिरपेक्ष देशों ने आपसी झगड़ों को पारस्परिक सहमति से सुलझाने के प्रयास किए और महाशक्तियों को भी इसी आधार पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। इससे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिला।

शीत युद्ध को गर्म युद्ध में बदलने से रोकना— गुट निरपेक्ष देशों ने निरन्तर शीत युद्ध के तनाव को कम करने के प्रयास किए। इससे विश्व में तीसरे युद्ध के होने की सम्भावनाएं क्षीण हुईं। गुट निरपेक्ष देशों ने गुटों की राजनीति

से दूर रहकर किसी गुट को अधिक शक्तिशाली नहीं होने देने का भरसक प्रयास किया। इन देशों ने दोनों महाशक्तियों के मनो में व्याप्त अविश्वास की भावना को दूर करने के पूरे प्रयास किए। इससे अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की सम्भावनाएं प्रबल हो गईं और शीत युद्ध गर्म युद्ध में तबदील होने से बच गया।

अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का टालना— गुटनिरपेक्ष देशों ने अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए सहयोग दिया। इन देशों ने या तो युद्ध को टाल दिया या उनका समाधान कराने में मदद की। इन्होंने इण्डोचीनी संघर्ष, स्वेज नहर संकट, कोरिया संकट, आदि के दौरान न्यायोचित भूमिका निभाई। इससे गतिरोध कम हुआ और संघर्ष टल गए। स्वयं महाशक्तियों ने भी उनकी मध्यस्थ की सराहनीय भूमिका की प्रशंसा की। इन देशों ने अंतर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किए।

निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा— इन देशों ने अपनी सम्मेलनों में बार बार परमाणु अप्रसार तथा शस्त्रों को नष्ट करने के प्रति अपनी वचनबद्धता को दोहराया। भारत के प्रधानमंत्री ने विश्व शान्ति को मजबूत बनाने के लिए जो पंचशील के सिद्धान्त रखे थे, उनको विश्व के अधिकतर देशों द्वारा सराहा गया। उसके द्वारा रखे गए आणविक शस्त्रों के परीक्षण सम्बन्धी सुझाव 1963 में आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के रूप में अपना लिए गए। इससे निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला।

संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में वृद्धि— गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन किया। इससे उनकी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति निष्ठा में वृद्धि हुई। सभी गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करके उसके प्रयासों को सफल बनाया। गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर एकता का परिचय देकर विश्व शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की मदद की।

नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग— गुट निरपेक्ष देशों ने विकसित देशों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि वर्तमान विश्व व्यवस्था गरीब देशों के हितों की पोषक नहीं है। आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया का लाभ प्राप्त करने के लिए इसका नए सिरे से गठन करने की आवश्यकता है। अपने काहिरा सम्मेलन में 1962 में प्रथम बार आर्थिक समस्याओं पर विचार करके अप्रत्यक्ष रूप से विकसित देशों को इस अन्यायपूर्ण साधनों के बंटवारे के प्रति चेता दिया और 1974 में

संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने की घोषणा का प्रस्ताव पास कराया। उनकी इस मांग ने विकसित राष्ट्रों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था की नए सिरे से समीक्षा करनी आवश्यक है।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि— 1976 में कोलम्बो शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष देशों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने का आह्वान किया। इसी के चलते दक्षिण-दक्षिण सहयोग की शुरुआत हुई जो आज विकासशील देशों के पारस्परिक आर्थिक सहयोग में वृद्धि के लिए आवश्यकता बन गया है। अब गरीब राष्ट्रों के पास आर्थिक विकास के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग की बात प्रमुख मुद्दा बन गई है। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धि कही जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुट-निरपेक्ष देशों ने शीतयुद्ध के तनावों को कम करके तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को क्षीण किया है। इसने अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों को टालने में पूरी मदद की है। इसने निःशस्त्रीकरण के प्रयास करके विश्वशान्ति को मजबूत बनाना है। इसने नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग करके विकसित देशों को इस बारे में सोचने के लिए विवश किया है। लेकिन फिर भी आलोचक इसे अप्रासंगिक मानकर इसे महत्वहीन आंदोलन की संज्ञा देते हैं। उनकी आलोचना के कुछ ठोस आधार हैं।

गुटनिरपेक्षता की विफलताएं

आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता की नीति अप्रासंगिक है। गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी तनाव है। वे इस स्थिति में नहीं हैं कि महाशक्तियों के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकें। न ही गुटनिरपेक्ष देशों के पास अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ावा देने का कोई बाध्यकारी साधन है। आज निरन्तर गुट सापेक्ष राष्ट्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्षता का काम करना कठिन हो जाता है। इसलिए आलोचक गुटनिरपेक्षता के विरुद्ध निम्न तर्क देते हैं—

- आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता अव्यवहारिक नीति है। सिद्धान्त तौर पर तो गुटनिरपेक्ष राष्ट्र साम्यवादी तथा पूंजीवादी राष्ट्रों का विरोध करते हैं। लेकिन व्यावहारिक धरातल पर वे अपने को उनसे ज्यादा दूर नहीं पाते हैं। भारत द्वारा सोवियत संघ के प्रति झुकाव तथा उसके साथ किए गए समझौते इस बात का संकेत हैं कि यह नीति

सिद्धान्त के अधिक पास तथा व्यवहार से अधिक दूर है। कई बात तो यह अपने मूलभूत सिद्धान्तों के ही विरुद्ध काम करने लगती है।

- यह सुरक्षा की भी नीति नहीं है। इसके पास आक्रमणकारी देश को रोकने के लिए बाध्यकारी शक्ति का पूर्ण अभाव है। अब भारत पर 1962 में चीन ने आक्रमण किया तो इसकी सुरक्षा की पोल खुल गई। किसी भी देश ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत की सहायता नहीं की। इस प्रकार इसमें सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं है।
- गुटनिरपेक्ष देशों के पास आर्थिक शक्ति का अभाव है। इन्हें आर्थिक मदद के लिए दूसरे विकसित देशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सहायता प्रदान करने वाले देश के प्रति उसका भावनात्मक तनाव तो जुड़ ही जाता है। ऐसे में गुटनिरपेक्षता कहां रह जाती है।
- आलोचकों का यह भी कहना है कि गुटनिरपेक्षता अवसरवादी नीति है। इसमें टिकाऊपन नहीं है। गुटनिरपेक्ष देश विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए दोहरे मापदण्ड अपनाते हैं। उनका ध्येय अधिक से अधिक लाभ उठाने का है। इसलिए यह काम निकालने की नीति है।
- स्वयं गुटनिरपेक्ष देशों में भी आपसी फूट व तनाव रहता है। गुटनिरपेक्ष देश सदैव एक दूसरे का शोषण करने की ताक में रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे विकसित देशों के प्रति संगठित नहीं हो सकते। इस बुनियादी एकता के अभाव में गुटनिरपेक्षता की सफलता की आशा करना व्यर्थ है।
- आलोचकों का कहना है कि गुटनिरपेक्षता—एक दिशाहीन आन्दोलन है। हवाना सम्मेलन (1979) में सभी गुटनिरपेक्ष देश तीन भागों में बंट गए थे। इनकी विचारधारा में मूलभूत अंतर स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आए। क्यूबा और वियतनाम ने साम्यवादी गुट की ओर झुकाव की बात कही। सिंगापुर तथा जायरे ने पश्चिमी गुट के साथ सहयोग करने की वकालत की। भारत जैसे देशों ने ही केवल गुट—निरपेक्षता को बनाए रखने में सहयोग दिया। इस प्रकार परस्पर विरोधी विचारों ने गुटनिरपेक्षता को एक दिशाहीन आन्दोलन बना दिया।
- गुटनिरपेक्षता केवल आदर्शवाद का पिटारा है। इसका अपना कोई मौलिक सिद्धान्त नहीं है। गुटनिरपेक्ष देश कई बार द्विपक्षीय मामलों को सम्मेलनों में उठाते रहते हैं। इसमें शामिल सभी देश पृथक—पृथक तरह

की विचारधारा रखते हैं। इसमें तानाशाही व लोकतन्त्रीय दोनों व्यवस्थाओं वाले देश एक साथ शामिल हैं। उनकी मौलिक विचारधारा में अन्तर होने के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक असफल आन्दोलन सिद्ध होता है।

- इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में कोई प्रमुख परिवर्तन नहीं हुआ है। शीत-युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों में आपसी तनाव में कमी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रयासों से न होकर उनकी आपसी सूझ-बूझ का ही परिणाम था। 1962 में क्यूबा संकट के समय दोनों महाशक्तियों में टकराव का टलना उनकी आपसी सहमति थी। अरब-इजराइल युद्धों में भी गुट-निरपेक्ष देश विशेष भूमिका नहीं निभा सके। अनेक अफ्रीकी देशों ने अपनी मुक्ति अपने खूनी संघर्ष से प्राप्त की। इसमें गुटनिरपेक्ष देशों की कोई विशेष भूमिका नहीं रही। अतः गुटनिरपेक्षता कोई प्रभावी उपाय नहीं है। जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अपनी उपस्थिति सिद्ध करा सके।
- आलोचकों का यह भी कहना है कि यह नीति शीत युद्ध के दौरान तो ठीक थी, लेकिन अब जब शीत-युद्ध को समाप्त हुए भी एक दशक हो चुका है, इसको जारी रखना एक बेईमानी है।

गुटनिरपेक्षता का भविष्य

आज विश्व के सामने प्रमुख मुद्दा सुरक्षा और विकास का है। आलोचकों द्वारा गुटनिरपेक्षता को अप्रासंगिक बताना अनुचित है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ के 2/3 देश इसकी सदस्यता ग्रहण कर चुके हैं। इसकी लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यह नव उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा शक्ति राजनीति विरोधी आन्दोलन से शुरू होकर आज सुदृढ़ तृतीय विश्व आंदोलन का रूप ले चुका है। यह शान्ति और समृद्धि का प्रमुख प्रोत्साहक बन गया है। यह तृतीय विश्व की एकता, स्वतन्त्र विदेश नीति, विकासशील राष्ट्रों के अधिकारों, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रमुख अभिनेता बन चुका है। यद्यपि इसकी कार्यकुशलता में तो कुछ कमी आई है लेकिन यह पूर्णतया महत्वहीन आन्दोलन नहीं हो सकता। आज गुटनिरपेक्ष देश अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को समाप्त करने की दिशा में कार्यरत हैं। इसलिए गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में एक नए विकल्प के तौर पर अपना स्थान बना चुकी है।

आज तृतीय विश्व के देशों के सामने सबसे बड़ा खतरा आर्थिक साम्राज्यवाद का है। बहुर्ाष्ट्रीय निगमों के बढ़ते हस्तक्षेप से इन देशों के सामने अपनी स्वतन्त्रता

को बचाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। नव-औपनिवेशिक शोषण से बचाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों का आन्दोलन विकसित देशों पर दबाव बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद जो तृतीय विश्व के देशों के आर्थिक विकास में बाधा है और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे रहा है, उसे समाप्त करने में तृतीय विश्व के देश आपसी सहयोग देकर उसका सफाया कर सकते हैं। आज शस्त्र दौड़ में कमी लाने के लिए तृतीय दुनिया के देश एकजुट होकर प्रयास कर सकते हैं ताकि इन देशों में घातक हथियारों का जमावड़ा न हो, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को पुरजोर बनाने के लिए उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग में वृद्धि करने के लिए गुटनिरपेक्ष देश महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। ये देश संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के लिए विकसित देशों पर दबाव बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। आज अमेरिका की दादागिरी को नीति का विरोध करने का साहस NAM ही कर सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने, नव-उपनिवेशवाद का विरोध करने, निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा देने और संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रजातन्त्रीकरण करने के लिए दबाव डालने के साधन के रूप में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की महती आवश्यकता है। गुट निरपेक्ष देशों को अपनी भूमिका में वृद्धि करने के लिए आपसी झगड़ों व तनावों को सहयोग की नीति के आधार पर हल करने की जरूरत है। आज तीसरी दुनिया के देशों के पास भी पर्याप्त आर्थिक साधन व तकनीकी ज्ञान है। इसका सदुपयोग करने के लिए तकनीकी ज्ञान के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। यदि तृतीय विश्व के देश आपसी मतभेदों को भुलाकर सहयोग को बढ़ावा दें तो वे विकसित देशों के सामने एक चुनौती पेश कर सकते हैं। यदि तृतीय राष्ट्र अपने इस उद्देश्य में सफल हो जाते हैं तो NAM का भविष्य उज्ज्वल होगा अन्यथा अन्धकारमय है। गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों को इसकी सभी कमियों को दूर करना होगा ताकि यह एक सशक्त आन्दोलन बनकर उभरे।

गुटनिरपेक्षता की अवधारणा

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भारत का योगदान है। अंतरिम प्रधान मंत्री के रूप में पदभार ग्रहण करने के तुरंत बाद, जवाहरलाल नेहरू द्वारा घोषित की गई नीति, गुटनिरपेक्षता की अवधारणा में विकसित हुई, सीधे तौर पर शीत युद्ध से संबंधित कहा जाता है, जो द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते ही शुरू हो गया था। शीत युद्ध शब्द का प्रयोग तीव्र तनाव के लिए किया गया था जो दो पूर्व सहयोगियों, संयुक्त

राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच विकसित हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध 1945 में समाप्त हुआ। इसके तुरंत बाद मित्र राष्ट्रों के खेमे में पनप रहा संघर्ष खुलकर सामने आ गया। मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और अन्य) ने जर्मनी, इटली और जापान के खिलाफ निर्णायक युद्ध जीता। लेकिन, विजेता अपने वैचारिक मतभेदों को स्थायी रूप से नहीं भूल सके और शीत युद्ध का परिणाम था। अजीब युद्ध था, हथियारों और सशस्त्र बलों के बिना लड़ा गया युद्ध, नसों का युद्ध, कूटनीतिक रूप से दो शत्रुतापूर्ण शिविरों के बीच लड़ा गया युद्ध। दो शिविरों, या गुटों के रूप में जाने जाते थे।

(1) संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी या पश्चिमी या लोकतांत्रिक गुट; और

(2) सोवियत संघ के नेतृत्व में समाजवादी या पूर्वी या सोवियत गुट।

गुटनिरपेक्षता की नीति गुट राजनीति से दूर रहना, दोनों के साथ दोस्ती बनाए रखना और किसी के साथ सैन्य गठबंधन नहीं करना और एक स्वतंत्र विदेश नीति विकसित करना था। नेहरू ने 7 सितंबर, 1946 को स्पष्ट कर दिया था कि, "हम अपनी पसंद का इतिहास बनाएंगे।" उन्होंने आगे कहा: "हम प्रस्तावित करते हैं, जहाँ तक संभव हो समूहों की सत्ता की राजनीति से दूर रहें, एक दूसरे के खिलाफ गठबंधन करें, जिसने अतीत में विश्व युद्धों का नेतृत्व किया है और जो फिर से बड़े पैमाने पर आपदाओं का कारण बन सकता है।" बाद में, 1947 में, उन्होंने कहा कि भारत किसी भी शक्ति गुट से संबंधित नहीं है। भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति एक सकारात्मक, या गतिशील, तटस्थता है, जिसमें एक देश स्वतंत्र रूप से कार्य करता है, और मामले की योग्यता के आधार पर प्रत्येक अंतरराष्ट्रीय मुद्दे पर अपनी स्थिति तय करता है।

प्रोफेसर महेन्द्र कुमार के अनुसार गुट निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन परिघटनाओं में से एक है जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर प्रकट हुई और जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति को आकार देने में एक महत्वपूर्ण शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए, प्रोफेसर एमएस राजन लिखते हैं: "गुटनिरपेक्षता अनिवार्य रूप से अंतरराष्ट्रीय मामलों में नीति और कार्रवाई की स्वतंत्रता के पर्याप्त उपाय के प्रतिधारण में शामिल है ... विशेष रूप से दो महाशक्तियों की नीतियों और मुद्राओं के संबंध में ..." उन्होंने कहते हैं कि, "इसके

अतिरिक्त गुटनिरपेक्षता सत्ता की राजनीति से दूर रहने, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए और सभी राज्यों के बीच सक्रिय अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बल देने के लिए है— गठबंधन और गुटनिरपेक्षता।” यहाँ जोर एक गुटनिरपेक्ष देश द्वारा नीति और कार्रवाई की स्वतंत्रता के आनंद पर है। यह अंतरराष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और सहयोग को बढ़ावा देता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गुटनिरपेक्षता का सीधा संबंध शीतयुद्ध से था। यह शीत युद्ध की प्रतिक्रिया थी जो “दो महाशक्तियों द्वारा आक्रामक गुट निर्माण” के लिए जाना जाता था। इस प्रकार केपी मिश्रा कहते हैं, “ब्लॉक राजनीति या सैन्य गठजोड़ से अलगाव गुटनिरपेक्षता का केंद्र बिंदु बन गया।” अब जब शीत युद्ध समाप्त हो गया था, तो यह महसूस किया गया कि गुटनिरपेक्षता का कोई औचित्य या प्रासंगिकता नहीं है। हम इस प्रश्न पर अगले भाग में चर्चा करेंगे।

गुटनिरपेक्षता को भारत द्वारा और बाद में अन्य देशों द्वारा विदेश नीति के एक उपकरण, या साधन के रूप में अपनाया गया था ताकि हमारी नई राजनीतिक स्वतंत्रता के पूर्ण अर्थ और सामग्री को सुनिश्चित किया जा सके। औपनिवेशिक भूमिका से मुक्ति महत्वपूर्ण थी, लेकिन उपलब्धि पर्याप्त नहीं थी। भारत के राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देना काफी हद तक “त्वरित सामाजिक-आर्थिक विकास” पर निर्भर था। जैसा कि केपी मिश्रा कहते हैं: “उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय शांति को इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिए एक शर्त के रूप में देखा, और शीत युद्ध, ब्लॉक राजनीति और सत्ता की राजनीति को एक हानिकारक और इसलिए विरोध करने की आवश्यकता के रूप में देखा।” इस प्रकार, गुटनिरपेक्षता तदर्थ निर्णयों का परिणाम नहीं थी। यह सुविचारित और सुनियोजित नीति थी। इसका अंतिम उद्देश्य राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देना था, प्रोफेसर वीपी दत्त के अनुसार, “गुटनिरपेक्षता भारत की विदेश नीति का तार्किक ढांचा बन गया। एक स्वतंत्र विदेश नीति ने लोगों के सचेत और अवचेतन आग्रहों का जवाब दिया, गर्व और अपनेपन की भावना का आयात किया, और देश की एकता को मजबूत करने में मदद की। स्वतंत्र और वांछित, भारत की तरह, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता बनाए रखने और अपने आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति को आसानी से अपनाया। विदेश नीति के एक सिद्धांत के रूप में गुटनिरपेक्षता की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए, के. सुब्रह्मण्यम कहते हैं कि “गुटनिरपेक्षता का यह सिद्धांत एक प्रमुख राष्ट्र की प्रतिक्रिया थी जो शीत युद्ध के अवशेषों के लिए विघटित होने वाला था। यह विऔपनिवेशीकरण के लिए काम करने की प्रतिज्ञा थी, अंतरराष्ट्रीय

शांति और सुरक्षा और एक विश्व व्यवस्था के लिए जो वर्चस्व और नस्लवाद से मुक्त था और जो सभी लोगों को अभी तक मुक्त होने के लिए समान अवसर सुनिश्चित करेगा। वह कहते हैं: "द्विध्रुवीय अवधारणा के प्रभुत्व वाली इस अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में गुटनिरपेक्षता स्वायत्तता का एक पता था।"

गुटनिरपेक्षता तटस्थता नहीं है: पश्चिम में बहुत से लोग गुटनिरपेक्षता के लिए तटस्थता या 'तटस्थता' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। लेकिन ये शब्द गुटनिरपेक्षता की अवधारणा की सही व्याख्या नहीं करते हैं। एक अवधारणा के रूप में तटस्थता युद्ध के दौरान किसी देश की स्थिति को दर्शाती है। जबकि युद्ध के पक्ष जुझारू हैं और लड़ाई में लगे हुए हैं, तटस्थ देश वे हैं जो उस विशेष युद्ध के पक्षकार नहीं हैं। उदाहरण के लिए, 1980 के ईरान-इराक युद्ध में भारत तटस्थ था। इसने दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखा। तटस्थता एक युद्ध में अलगाव की अवधारणा है। तटस्थ देशों के आचरण को अंतरराष्ट्रीय कानून द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में तटस्थता शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है: "किसी भी पक्ष की सहायता नहीं करना और विशेष रूप से युद्ध के मामले में किसी भी पक्ष के संबंध में निष्क्रिय रहने वाले जुझारू लोगों में से किसी को भी सक्रिय समर्थन नहीं देना, और तटस्थता शत्रुता के दौरान किसी भी तरह से झुकाव की स्थिति नहीं है" एमएस राजन कहते हैं, "गुटनिरपेक्षता एक सामान्य युद्ध के दौरान एक गैर-जुझारू राष्ट्र की तटस्थता नहीं है, न ही यह स्विट्स और ऑस्ट्रियाई ब्रांड की तटस्थता है, इसकी गारंटी है अन्य राष्ट्रों द्वारा। हालांकि, युद्ध की स्थिति के अलावा, पीटर लियोन का कहना है कि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में तटस्थता का एक सामान्य राजनयिक या राजनीतिक अर्थ भी हो सकता है। पीटर ल्योन के अनुसार, इसका मतलब है कि दो पक्षों (शांति के समय) के बीच संघर्ष में, एक तीसरा पक्ष किसी का समर्थन करने का फैसला नहीं करता है। निहितार्थ भारत की गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के काफी करीब है। न ही यह स्विट्स और ऑस्ट्रियाई ब्रांड की तटस्थता है, जिसकी गारंटी अन्य देशों द्वारा दी जाती है। हालांकि, युद्ध की स्थिति के अलावा, पीटर लियोन का कहना है कि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में तटस्थता का एक सामान्य राजनयिक या राजनीतिक अर्थ भी हो सकता है। पीटर ल्योन के अनुसार, इसका मतलब है कि दो पक्षों (शांति के समय) के बीच संघर्ष में, एक तीसरा पक्ष किसी का समर्थन करने का फैसला नहीं करता है। निहितार्थ भारत की गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के काफी करीब है। न ही यह स्विट्स और ऑस्ट्रियाई ब्रांड की तटस्थता है, जिसकी गारंटी अन्य देशों द्वारा दी जाती है। हालांकि, युद्ध की

स्थिति के अलावा, पीटर लियोन का कहना है कि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में तटस्थता का एक सामान्य राजनयिक या राजनीतिक अर्थ भी हो सकता है। पीटर लियोन के अनुसार, इसका मतलब है कि दो पक्षों (शांति के समय) के बीच संघर्ष में, एक तीसरा पक्ष किसी का समर्थन करने का फैसला नहीं करता है। निहितार्थ भारत की गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के काफी करीब है।

गुटनिरपेक्षता तटस्थता या अलगाववाद नहीं है: तटस्थता तटस्थता और गुटनिरपेक्षता दोनों से अलग है। एक तटस्थ राज्य एक दिन युद्ध का पक्षकार नहीं होता है, लेकिन अगले दिन युद्धरत हो सकता है। वह अवस्था तब तटस्थ हो जाती है। दूसरी ओर, शांति और युद्ध दोनों समय तटस्थता एक स्थायी स्थिति है। ऐसे राज्य को अन्य राज्यों द्वारा आश्वासन दिया जाता है कि वह किसी भी युद्ध में शामिल नहीं होगा और तटस्थ राज्य स्वयं अंतरराष्ट्रीय विवादों में स्थिति लेने से बचते हैं: स्विट्जरलैंड लंबे समय से एक तटस्थ राज्य रहा है। इसकी कोई स्थायी सेना नहीं है और दोनों विश्व युद्धों के दौरान इसकी स्थिति खराब नहीं हुई थी। 1955 में ऑस्ट्रिया की तटस्थ स्थिति को मान्यता दी गई थी। गुटनिरपेक्ष देश तटस्थ स्थिति के लिए प्रतिबद्ध नहीं हैं। गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध से संबंधित अवधारणा है। एक गुटनिरपेक्ष देश शीत युद्ध के संदर्भ में किसी भी शक्ति गुट के साथ स्थायी रूप से गठबंधन नहीं करता है। 1947 में स्वतंत्र होते ही भारत ने गुटनिरपेक्षता को एक नीति के रूप में अपना लिया। एक गुटनिरपेक्ष देश स्वतंत्र विदेश नीति के निर्णय लेने की स्वतंत्रता रखता है। ऐसे निर्णय एक स्थिति में किसी एक बड़ी या महाशक्ति के पक्ष में जा सकते हैं।

दूसरी स्थिति में वही गुट निरपेक्ष देश दूसरी शक्ति के पक्ष में निर्णय ले सकता है। एक गुटनिरपेक्ष देश तटस्थ नहीं है। यह दोनों शक्ति गुटों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने और महाशक्तियों की इच्छाओं पर विचार किए बिना अपने निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है। गुटनिरपेक्षता संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतर्राष्ट्रीय में मतदान करने की स्वतंत्रता देती है जिस तरह से कोई देश अपने निर्णय के लिए किसी बाहरी शक्ति द्वारा निर्धारित नहीं होता है। किसी गुटनिरपेक्ष देश का राष्ट्रीय हित ही उसके निर्णयों को निर्धारित करता है।

गुटनिरपेक्षता अलगाव से भी अलग है। अलगाव का अर्थ है दूसरे देशों की समस्याओं से पूरी तरह अलग हो जाना। यह न तो तटस्थता है और न ही तटस्थता, न ही गैर-प्रतिबद्धता, न ही संरक्षण। प्रथम विश्व युद्ध से पहले संयुक्त राज्य अमेरिका अपने अलगाव के लिए जाना जाता था। मुनरो सिद्धांत (1823) के

अनुसार, संयुक्त राज्य ने खुद को यूरोपीय समस्याओं से असंबद्ध घोषित कर दिया था। पेरिस शांति सम्मेलन के बाद एक बार फिर कुछ समय के लिए (1919), संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरोप के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंधों से दूर रहने का प्रयास किया। गुट निरपेक्ष देश अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से उदासीन नहीं रहते। वे राष्ट्रों के बीच राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। केवल एक चीज जो वे नहीं करते हैं वह यह है कि वे किसी भी महाशक्तियों के साथ स्थायी रूप से बंधे नहीं हैं। वे निर्णय लेने की अपनी स्वतंत्रता को नहीं छोड़ते हैं, जबकि जो लोग शीत युद्ध के दौरान एक महाशक्ति या दूसरे के साथ गठबंधन कर रहे थे, वे वस्तुतः संबंधित ब्लाक नेता द्वारा निर्धारित किए गए थे। एमएस राजन के अनुसार, गुटनिरपेक्षता "अलगाववाद के अलावा कुछ भी है। इसका मतलब है और वैश्विक मामलों में एक सक्रिय, गतिशील और सकारात्मक भूमिका की मांग करता है।"

गुटनिरपेक्षता को जॉर्ज श्वार्जनेबर्गर द्वारा "गठबंधन से बाहर रखने की नीति" के रूप में परिभाषित किया गया था। इसे विस्तार से बताते हुए प्रो. महेंद्र कुमार कहते हैं कि गुटनिरपेक्षता "शीत युद्ध से अलग होना" है। श्वार्जनेबर्गर ने छह अवधारणाओं का उल्लेख किया जो अक्सर गुटनिरपेक्षता के लिए होती हैं। वे तटस्थता, तटस्थता, अलगाववाद, गैर-प्रतिबद्धता, एकपक्षवाद और गैर-भागीदारी हैं। पीटर कैल्वोकोरेसी गुटनिरपेक्षता के लिए तटस्थता का उपयोग करते हैं और कहते हैं कि "तटस्थता और गुटनिरपेक्षता एक विशेष और वर्तमान संघर्ष के प्रति एक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थी।" उनके अनुसार, उन्होंने "दोनों पक्षों के साथ समान संबंध" बनाए। यह अंतिम-उल्लिखित कथन इस बात का आभास देता है कि जिसे "समानता" की नीति कहा जा सकता है। यह फिर से गुटनिरपेक्षता नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, गुटनिरपेक्षता विदेश नीति में निर्णय लेने की स्वतंत्रता है जो दोनों पक्षों के साथ समान संबंध नहीं हो सकता है, और एक गुटनिरपेक्ष देश को दोनों महाशक्तियों से बिल्कुल समान दूरी पर नहीं रख सकता है। केपी मिश्रा भी जोर देकर कहते हैं कि "गैर-ब्लॉक डॉक्स, ब्लॉक्स से समान दूरी का मतलब नहीं है।" "यदि स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए, एक ब्लॉक के साथ घनिष्ठ संबंध की मांग की जाती है, तो इस तरह के रिश्ते की अनुमति दी जानी चाहिए, बशर्ते रिश्ते को एक प्रतिबद्धता में बदलने की अनुमति न हो, जो संबंधित देश द्वारा संप्रभुता के अभ्यास को सीमित करता है।"

भले ही हम समतुल्य संबंधों के विचार से सहमत न हों। कैल्वोकोरेसी के गुटनिरपेक्षता के नकारात्मक और सकारात्मक चरणों को स्पष्ट रूप से समझा

जाना चाहिए। उनका कहना है कि सकारात्मक चरण का मतलब था कि नए (गुट-निरपेक्ष) राज्य शीत युद्ध से बचना चाहते थे, लेकिन विश्व राजनीति से बाहर नहीं रहना चाहते थे। वह इस चरण को "सकारात्मक तटस्थता" के रूप में संदर्भित करता है और कहता है कि यह "महानों के खतरनाक झगड़ों में मध्यस्थता करने और उन्हें कम करने का प्रयास था।" इसके नकारात्मक चरण में, "गुट-निरपेक्षता में शीत युद्ध की निंदा शामिल थी, यह दावा कि दुनिया में और भी महत्वपूर्ण मामले थे, नए राज्यों की शक्तिहीनता की स्वीकृति और दो विशाल शक्तियों के बीच न्याय करने से इंकार करना।" हम गुटनिरपेक्ष राज्यों की "शक्तिहीनता" की अवधारणा से सहमत नहीं हैं। दरअसल, इसके सकारात्मक अर्थ में, गुटनिरपेक्षता का अर्थ है कार्रवाई के तरीके को तय करने की स्वतंत्रता, जिसे कोई देश शीत युद्ध में भाग लेने वाले मुख्य अभिनेताओं के साथ स्थायी गठजोड़ से दूर संबंध में अपनाना चाहता है। सकारात्मक अर्थ में, इसका अर्थ है किसी के क्षेत्र पर किसी भी महाशक्ति को सैन्य ठिकानों की अनुमति देने से इनकार करना और किसी के क्षेत्र में किसी भी महाशक्ति को सैन्य ठिकानों से दूर रखना और सभी प्रकार के सैन्य उलझावों से दूर रहना। इस प्रकार, गुटनिरपेक्षता कार्रवाई की स्वतंत्रता की अवधारणा है।

इस बात पर जोर देते हुए कि गुटनिरपेक्षता अपने राष्ट्रीय हित के साथ-साथ विश्व शांति की रक्षा के लिए भारत की एक अनूठी नीति है और यह एक ऐसा रवैया नहीं है जो अंतरराष्ट्रीय जिम्मेदारियों से पीछे हटता है, प्रो. एमएस राजन कहते हैं कि यह "बैठने" की नीति नहीं है। एक गुटनिरपेक्ष देश विश्व राजनीति के खेल में मात्र दर्शक नहीं हो सकता है या दिन के ज्वलंत मुद्दों के प्रति उदासीन नहीं हो सकता है। यह दोनों ब्लॉकों के राष्ट्रों के सक्रिय सहयोग और आपसी मित्रता की तलाश करता है। "भारत के लिए, गुटनिरपेक्षता एक महान शक्ति बनने के लिए वैश्विक मामलों में अपने कद को बढ़ावा देने का एक साधन नहीं है और न कभी रही है।" राजन इस विचार को खारिज करते हैं कि यह एक आदर्शवादी नीति है। वह इसे "डाउन-टू-अर्थ" नीति कहते हैं, जो युद्ध के बाद के अंतर्राष्ट्रीय समाज की वास्तविकताओं में उत्पन्न हुई थी।

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने वाला पहला देश था। भारत की नीति सकारात्मक या गतिशील तटस्थता है जिसमें कोई देश स्वतंत्र रूप से कार्य करता है और प्रत्येक मुद्दे पर उसकी योग्यता के

आधार पर अपनी नीति तय करता है। गुटनिरपेक्षता सकारात्मक तर्क पर आधारित है। यह सही और गलत के बीच अंतर करने के लिए एक नकारात्मक, मध्य-मार्ग की अनिच्छा नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि कोई देश बस एक गोले में बंद हो जाता है। नेहरू ने 1948 में अमेरिकी कांग्रेस में घोषणा की थी, "जहां स्वतंत्रता है धमकी, या न्याय की धमकी दी जाती है, या जहां आक्रामकता होती है, हम तटस्थ नहीं हो सकते हैं और न ही रहेंगे ... हमारी नीति तटस्थतावादी नहीं है, लेकिन संरक्षित करने के लिए सक्रिय प्रयासों में से एक है और यदि संभव हो तो, दृढ़ नींव पर शांति स्थापित करें। भारत की विदेश नीति पर टिप्पणी करते हुए, केएम पणिक्कर ने कहा था, "वह स्वतंत्रता की स्थिति बनाने में सक्षम रही है और इसी तरह स्थित अन्य राज्यों के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय सद्भावना के कारण काफी प्रभाव डालने में सक्षम रही है।" एक तरह से यह नीति अहिंसा में गांधीजी के विश्वास को बढ़ावा देती है। शुरुआती दिनों में आलोचकों ने कहा था कि भारत की नीति "लोकतंत्र के पक्ष में तटस्थ" रहने की थी।

4 दिसंबर, 1947 को संविधान सभा (विधायी) में बोलते हुए, नेहरू ने इस धारणा को दूर करने की कोशिश की थी कि भारत की गुटनिरपेक्षता का अर्थ तटस्थता भी है। उन्होंने कहा था: हमने इस पिछले साल के दौरान घोषणा की है कि हम खुद को किसी विशेष समूह से नहीं जोड़ेंगे। इसका तटस्थता या निष्क्रियता या किसी और चीज से कोई लेना-देना नहीं है। यदि कोई बड़ा युद्ध होता है, तो कोई विशेष कारण नहीं है कि हम उसमें कूद पड़ें... यदि हम उसकी मदद कर सकते हैं तो हम युद्ध में शामिल नहीं होने जा रहे हैं, और हम उस पक्ष में शामिल होने जा रहे हैं जो समय आने पर हमारे हित में होगा चुनाव करने के लिए।

भारत तीसरे विश्व युद्ध को रोकना चाहता था। नेहरू ने कहा था: "अगर और जब आपदा आती है तो यह पूरी दुनिया को प्रभावित करेगी, हमारा पहला प्रयास उस आपदा को होने से रोकना होना चाहिए।" शक्ति गुटों से दूर रहने के भारत के संकल्प को दोहराते हुए, उन्होंने 1949 में कहा, "अगर किसी भी तरह से हम खुद को निश्चित रूप से एक शक्ति समूह के साथ संरेखित करते हैं, तो हम शायद एक दृष्टिकोण से कुछ अच्छा कर सकते हैं, लेकिन मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक बड़े दृष्टिकोण से, यह न केवल भारत का बल्कि विश्व शांति का भी नुकसान करेगा। क्योंकि तब हम उस जबरदस्त सहूलियत के मैदान को खो देते हैं जो हमारे पास ऐसे प्रभाव का उपयोग करने के लिए होता है जो हमारे पास

है ... विश्व शांति के कारण। भारत की विदेश नीति की हमेशा कुछ प्राथमिकताएँ रही हैं, जैसे देश का आर्थिक विकास, विदेशी मामलों में कार्रवाई की स्वतंत्रता को बनाए रखना, नेहरू उदारवाद और लोकतंत्र की पश्चिमी अवधारणा के प्रति प्रतिबद्ध थे। लेकिन, उन्होंने साम्यवाद को रोकने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा शुरू किए गए NATO और SEATO जैसे सैन्य गठजोड़ को मंजूरी नहीं दी। उन्होंने पश्चिमी गठजोड़ का इस आधार पर विरोध किया कि उन्होंने उपनिवेशवाद के एक नए रूप को प्रोत्साहित किया और यह भी कि इससे दो खेमों के बीच जवाबी चाल और हथियारों की दौड़ को बढ़ावा मिलने की संभावना थी। नेहरू समाजवाद से प्रभावित थे और उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद के विचार की पुरजोर वकालत की। लेकिन, उन्होंने कम्युनिस्ट राज्य को "अखंड" के रूप में पूरी तरह से खारिज कर दिया और मार्क्सवाद को एक पुराने सिद्धांत के रूप में वर्णित किया। नेहरू एक समाजवादी और एक उदार लोकतंत्र का मिश्रण थे। वह अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शक्ति गुटों के विचार के बिल्कुल खिलाफ थे। इसलिए भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति तीसरे ब्लॉक को बढ़ावा देने के लिए नहीं था बल्कि हाल ही में उपनिवेशित राज्यों के निर्णय लेने की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए था। टकराव की नीति के विपरीत, भारत द्वारा शांति की नीति के रूप में गुटनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया गया था।

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यथास्थिति के विरुद्ध थी। इसका मतलब उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, नस्लीय भेदभाव और अब नव-उपनिवेशवाद का विरोध था। भारत इन बुराइयों से मुक्त विश्व चाहता है। दूसरे, गुटनिरपेक्षता महाशक्तियों की श्रेष्ठता की अवधारणा को खारिज करती है। यह सभी राज्यों की संप्रभु समानता की वकालत करता है। तीसरा, गुटनिरपेक्षता देशों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहित करती है। यह उन गठजोड़ों का विरोध करता है जो दुनिया को राज्यों के समूहों, या पावर ब्लॉक्स में विभाजित करते हैं। गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की वकालत करती है और बल प्रयोग को अस्वीकार करती है। यह परमाणु हथियारों के पूर्ण विनाश का पक्षधर है और व्यापक निरस्त्रीकरण की वकालत करता है। यह संयुक्त राष्ट्र को मजबूत करने के सभी प्रयासों का समर्थन करता है। भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति मानव जाति की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर बल देती है। भारत एक नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग का पूरा समर्थन करता रहा है ताकि मौजूदा अन्यायपूर्ण और असंतुलित आर्थिक व्यवस्था को एक नई और न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था में बदला जा सके।

गुटनिरपेक्षता के कारण

भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को इसलिए अपनाया है क्योंकि वह निर्णय लेने की अपनी स्वतंत्रता को खोना नहीं चाहता था, और क्योंकि स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारत की प्राथमिक चिंता आर्थिक विकास थी। यह नीति पांच दशकों से कायम है। प्रोफेसर एम एस राजन ने शुरुआत में इस नीति को अपनाने के सात कारण बताए थे। सबसे पहले, यह महसूस किया गया कि अमेरिका या यूएसएसआर ब्लॉक के साथ भारत का संरेखण अंतरराष्ट्रीय तनाव को बढ़ाएगा, बजाय इसके कि आकार, भू-राजनीतिक महत्व और सभ्यता में योगदान को देखते हुए, भारत की "अंतराष्ट्रीय तनाव को कम करने में एक सकारात्मक भूमिका" थी। शांति को बढ़ावा देना और दो खेमों के बीच एक सेतु के रूप में काम करना।"

दूसरे, भारत न तो एक महान शक्ति था और न ही वह अपने आप को एक महत्वहीन राष्ट्र के रूप में व्यवहार करने की अनुमति दे सकता था। हालाँकि, भारत संभावित रूप से महान शक्ति था। गुटनिरपेक्षता भारत की "हमारी राष्ट्रीय पहचान को बनाए रखने की वर्तमान आवश्यकता" के अनुकूल है और दूसरी ओर "एक स्वीकृत महान शक्ति की हमारी भविष्य की भूमिका" से समझौता नहीं करने के लिए।

तीसरे, भावनात्मक और वैचारिक कारणों से भारत किसी भी शक्ति गुट में शामिल नहीं हो सका। हम पश्चिमी (अमेरिकी) ब्लॉक में शामिल नहीं हो सके क्योंकि इसके कई सदस्य देश औपनिवेशिक शक्तियाँ या पूर्व-औपनिवेशिक शक्तियाँ थीं, और कुछ अभी भी नस्लीय भेदभाव का अभ्यास करते थे। हम पूर्वी (सोवियत) ब्लॉक में शामिल नहीं हो सके क्योंकि साम्यवाद, एक विचारधारा के रूप में, भारतीय सोच और जीवन के तरीके से पूरी तरह से अलग था।

चौथा, किसी भी संप्रभु देश की तरह, भारत, जो अभी-अभी संप्रभु बना था, निर्णय की स्वतंत्रता को बनाए रखना और उसका प्रयोग करना चाहता था, न कि "दूसरे देश के एग्रन-स्ट्रिंग्स से बंधे रहना"। इसका मतलब यह था कि भारत हर मुद्दे को उसकी योग्यता के आधार पर तय करने की आजादी चाहता था।

पाँचवें, प्रोफेसर राजन के अनुसार, एक बार जब भारत ने आर्थिक विकास योजनाएँ शुरू कीं, तो हमें विदेशी आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी "यह राजनीतिक रूप से वांछनीय था कि केवल एक ब्लॉक से सहायता पर निर्भर न रहे, और इसे एक से अधिक स्रोतों से प्राप्त करने में सक्षम होने के लिए

लाभदायक था।”

छठे, गुटनिरपेक्षता भारत की पारंपरिक मान्यता के अनुसार है कि “सत्य, सही और अच्छाई” किसी एक धर्म या दर्शन का एकाधिकार नहीं है। भारत असहिष्णुता में विश्वास करता है। इसलिए, विश्व की स्थिति ने दोनों प्रणालियों के सहिष्णुता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का आह्वान किया, जिसमें भारत किसी भी ब्लॉक के साथ गठबंधन नहीं कर रहा था, न ही उनके प्रति शत्रुतापूर्ण था।

अंत में, गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए घरेलू राजनीतिक स्थिति भी जिम्मेदार थी। प्रोफेसर राजन के अनुसार, “भारत को किसी भी ब्लॉक के साथ संरेखित करके, भारत सरकार ने देश में राजनीतिक विवाद और अस्थिरता के बीज बोए होंगे ...”।

जो भी वास्तविक कारण हों, जिन्होंने नेहरू और उनकी सरकार को गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया हो, यह स्पष्ट है कि भारत के लोगों ने और बड़े पैमाने पर नीति का समर्थन किया। कई अन्य देशों ने इस नीति को अपनाना अपने राष्ट्रीय हित में पाया जिसके कारण गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना हुई।

1961 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) शुरू करने के लिए भारत काफी हद तक जिम्मेदार था। इसकी शुरुआत नेहरू, यूगोस्लाव के राष्ट्रपति टीटो और मिस्र के राष्ट्रपति नासर ने की थी। बेलग्रेड में आयोजित पहले NAM सम्मेलन में पच्चीस देशों ने भाग लिया और टीटो की अध्यक्षता की। पहले एनएएम शिखर सम्मेलन के प्रस्तावित प्रतिभागियों की विदेश नीतियों की सावधानीपूर्वक जांच के बाद नेहरू, नासिर और टीटो द्वारा निमंत्रण भेजे गए थे। NAM में शामिल होने के लिए पाँच मानदंड थे:

- (1) देश ने गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित एक स्वतंत्र विदेश नीति का पालन किया
- (2) देश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी था;
- (3) इसे शीत युद्ध से संबंधित सैन्य गुट का सदस्य नहीं होना चाहिए था;
- (4) इसकी किसी भी महाशक्तियों के साथ द्विपक्षीय संधि नहीं होनी चाहिए थी, और
- (5) NAM को अपने क्षेत्र में किसी भी विदेशी सैन्य अड्डे की अनुमति नहीं

देनी चाहिए थी। यह मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों तरह से बढ़ा है। 1996 में NAM के 113 सदस्य थे। इसके शिखर सम्मेलन समय-समय पर आयोजित किए जाते हैं जिनमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से संबंधित मुद्दों पर चर्चा की जाती है, और विभिन्न मुद्दों पर एक सामान्य दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया जाता है। चूंकि सदस्यों की संख्या बहुत अधिक हो गई है, इसलिए अक्सर ऐसा दृष्टिकोण अपनाना कठिन हो जाता है जिसका सभी देश अनुसरण कर सकें। 1961 और 1995 के बीच ग्यारह शिखर सम्मेलन आयोजित किए गए थे। अंतिम दो, जकार्ता (1992) और कार्टाजेना (1995) शिखर सम्मेलन शीत युद्ध की समाप्ति, पूर्व यूएसएसआर के विघटन, नामीबिया की स्वतंत्रता के साथ विऔपनिवेशीकरण के पूरा होने के बाद आयोजित किए गए थे और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति।

गुटनिरपेक्षता की विशेषताएं

गुटनिरपेक्षता नीति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

1. पाँच सिद्धांतों पर आधारित

गुटनिरपेक्षता नीति 5 सिद्धांतों पर आधारित हैं। 1961 में गुटनिरपेक्षता आंदोलन के तीन कर्णधारों पंडित जवाहरलाल नेहरू, नासिर व टीटो ने इसके 5 आधारों को स्वीकार किया हैं—

- (1) जिसकी स्वतंत्र विदेश नीति पर हो।
- (2) जो राष्ट्र किसी सैनिक गुट का सदस्य नहीं हो।
- (3) जो किसी महाशक्ति से द्विपक्षीय समझौता न करता हो।
- (4) सदस्य देश उपनिवेश का विरोध करता हो।

(5) जो अपने क्षेत्र में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न देता हो।

2. स्वतंत्र नीति का पालन

गुटनिरपेक्षता स्वतन्त्र नीति का पालन करने में विश्वास करती है। उसका मानना है कि गुटबन्धियां राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक हैं। इसीलिए भारत हमेशा से अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता को आधार मानता रहा है।

3. अलगाववाद या तटस्थता की नीति नहीं

गुटनिरपेक्षता अलगाववाद या तटस्थता की नीति नहीं है। यह अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक रहने तथा उन समस्याओं के समाधान के लिए सहयोग देने की नीति है।

4. शीत युद्ध विरोधी

गुटनिरपेक्षता की नीति शीत युद्ध का समर्थन नहीं करती। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ रूस में शीत-युद्ध का दौर चल रहा था जिसने पूरे विश्व को प्रभावित कर रखा था। दोनों देश नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने-अपने गुट में शामिल का प्रयास कर रहे थे। भारत जैसे अनेक राज्य शीत-युद्ध को विश्व-शांति के लिए हानिकारक मानते थे। इसलिए उन्होंने शीत-युद्ध का विरोध करना अपनी विदेश नीति का मूल सिद्धान्त बनाया। गुटनिरपेक्षता के समर्थक देशों ने शीत-युद्ध का विरोध और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा राष्ट्रों के मध्य सहयोग का समर्थन किया।

5. साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की विरोधी नीति

यह नीति साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की विरोधी हैं। गुटनिरपेक्षता की नीति राष्ट्रवाद की समर्थक हैं इसलिए यह साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की विरोधी है। यह नीति प्राचीन राष्ट्रों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के पक्ष में हैं।

6. सैन्य तथा राजनीतिक गठबन्धों का विरोध

यह नीति सभी प्रकार के सैनिक, राजनीतिक, सुरक्षा-सन्धियों तथा गठबन्धनों का विरोध करने की नीति है। गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध के दौरान उत्पन्न नाटो, सीटो एवं वार्सा समझौतों का विरोध करती है। गुटनिरपेक्षता की नीति का मानना है कि सैनिक गठबन्धन साम्राज्यवाद, युद्ध तथा नव-उपनिवेशवाद को बढ़ावा हैं। ये शीत युद्ध या अन्य तनावों को जन्म देते हैं। इन्हीं से विश्व शान्ति भंग होती है। अतः इनसे दूर रहना तथा विरोध करना आवश्यक है।

7. गुट-निरपेक्षता की नीति जातिवाद तथा रंगभेद में विश्वास नहीं करती

यह नीति जातिवाद तथा रंगभेद का विरोध करती हैं तथा विश्व-बंधुत्व और विश्व-शांति में विश्वास करती हैं।

8. यह नीति लचीली है

यह नीति समयानुसार परिवर्तन में विश्वास करती है। यह निर्भीकता और साहस की नीति है। यह विश्व-शांति की समर्थक है परन्तु यदि आवश्यक हुआ तो युद्ध का सहारा भी ले सकती है।

9. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा आपसी सहयोग की नीति

गुटनिरपेक्षता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा आपसी सहयोग की नीति है। यह नीति शक्ति की राजनीति की विरोधी है। यह शक्ति के किसी भी रूप का खण्डन करती है। यह राष्ट्रों के बीच तनावों एवं संघर्षों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने में विश्वास करती है।

10. गुट-निरपेक्षा की नीति शस्त्रीकरण के पक्ष में नहीं

गुटनिरपेक्षता के नीति शस्त्रीकरण का समर्थन नहीं करती। यह शस्त्रीकरण के स्थान पर शान्तिपूर्ण विकास और आर्थिक समृद्धि को महत्व देती है।

गुट निरपेक्ष आंदोलन का महत्व

द्वितीय विश्व युद्धोपरांत गुट निरपेक्ष आंदोलन एकमात्र ऐसा आंदोलन रहा है, जो सैद्धांतिक प्रतिबद्धता के साथ जागरूक समूह के रूप में विश्व राजनीति में सक्रिय रहा है। अवसरवादिता ने इस सम्मेलन को प्रभावित जरूर किया किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक व व्यावहारिक स्वरूप में गुट निरपेक्ष आंदोलन का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का महत्व निम्नलिखित हैं—

1. शान्ति का आग्रदूत

गुटनिरपेक्षता आंदोलन एक शान्तवादी आंदोलन प्रारंभ स्तम्भ से रहा है जो मानवतावाद की धुरी है। इस आंदोलन को मानव जगत की आत्मा और भविष्य कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने में महत्ती भूमिका का निर्वाह इस आंदोलन के द्वारा किया गया जब विश्व में गुटीय राजनीति सक्रिय थी। यह आंदोलन समस्याओं का समाधान अहिंसक व शान्तिपूर्ण तरीकों से करने का पक्षधर रहा।

2. स्वाधीनता का प्रतीक

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने विश्व के मुक्ति आंदोलनों को समर्थन देकर विश्व

जनमत, उपनिवेशवादी ताकतों पर दबाव डालकर उपनिवेशवाद के उन्मूलन की प्रक्रिया को बढ़ाया है। विश्व के स्वाधीनता आंदोलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की भूमिका महत्वपूर्ण रही हैं।

3. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, नव-साम्राज्यवाद, प्रभुत्ववाद के विरुद्ध सशक्त मंच के रूप में कार्य किया है। नवोदित विकासशील व गरीब अविकसित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय, आत्मनिर्भरता व आत्मसम्मान का समर्थन किया है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय मंचों, विशेषकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह आंदोलन सदस्य देशों की संयुक्त अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गया है। तनावशैथिल्य, निःशस्त्रीकरण व अन्य चुनौतियों का इस आंदोलन की संयुक्त अभिव्यक्ति ने सशक्त राष्ट्रों के प्रभाव को कमजोर किया है।

5. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के कारण ही नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और संचार व तकनीक व्यवस्थाओं को आवाज मिली है। समानता पर आधारित विश्व की आधारशिला गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा रखी गई है।

6. यह आंदोलन गतिशील है। इस आंदोलन का निरंतर विकास हुआ है। आज एक-ध्रुवीय विश्व में इसके आकार के आधार पर इस आंदोलन की उपेक्षा संभव नहीं है। अमेरिका के प्रभाव विस्तार के सामने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का काम इसके द्वारा किया गया है। इस समय इसकी प्रासंगिकता बढ़ी हुई है। यह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा है।

गुटनिरपेक्षता आंदोलन की प्रासंगिता

वर्तमान में गुट निरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान विश्व व्यवस्था में गुटनिरपेक्षता का औचित्य नहीं रह गया है। गुटनिरपेक्षता की सार्थकता द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीत युद्ध के वातावरण में तो थी, किन्तु विगत 20-25 वर्षों में विश्व राजनीति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बहुध्रुवीकरण, नाटो-सीटो जैसे संगठनों का टूटना, देतान्त संबंधों का अभ्युदय, अमेरिका और चीन में समझौतावादी संबंधों, सोवियत संघ के विघटन ने गुटनिरपेक्ष देशों की भूमिका को सीमित कर दिया है। ये संकट की घड़ी में निर्णायक तो ठीक, प्रभावशाली भी नहीं बन सकते। गुटनिरपेक्षता शीत युद्ध के संदर्भ में उत्पन्न हुई थी और आज शीत युद्ध के समाप्त होने के कारण गुटनिरपेक्षता व्यर्थ-सी हो गई है।

गुटनिरपेक्ष देशों ने सदस्य राष्ट्रों को संकट के समय कोई सहायता नहीं पहुँचाई। अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण के समय गुटनिरपेक्ष बिरादारी मूक दर्शक बनकर सब कुछ देखती रही। भारत-चीन सीमा विवाद, वियतनाम-कम्पूचिया विवाद, ईरान-इराक विवाद आदि समस्याओं के निदान के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन कोई नुस्खा प्रस्तुत नहीं कर पाया।

गुटनिरपेक्ष समुदाय के भीतर फूट और झगड़े उत्पन्न हो गए हैं। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य आपस में लड़ रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य ही गुटनिरपेक्षता के आदर्शों पर नहीं चल रहे हैं।

गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता एक ध्रुवीय विश्व में ज्यादा बढ़ी है। सोवियत संघ के विघटन के बाद गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता पर गुटों के न रहने पर, किसके संदर्भ में गुट निरपेक्षता? का प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अप्रासंगिक नहीं हुआ वरन् उसके दायित्वों में परिवर्तन हुआ है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन बड़ी शक्तियों के वर्चस्व के संदर्भ में हमेशा रहा है। बड़ी शक्ति एक हो अथवा दो इससे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का औचित्य समाप्त नहीं हो जाता। आज भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन राजनीति में 114 देशों का सशक्त मंच है, जो विश्व के विकासशील राष्ट्रों व शेष विश्व का दृष्टिकोण महाशक्तियों के सामने रखता है, जिसकी उपेक्षा संभव नहीं है। एक ध्रुवीय विश्व में गुटनिरपेक्षता की द्विध्रुवीय विश्व की तुलना में भूमिका बदली है। वैदेशिक नीति की स्वतंत्रता, नवोदित राष्ट्रों को आत्मनिर्भरता, आत्मनिर्णय के संबंध में इसकी उपयोगिता पर कोई संकट नहीं है।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में विगत वर्षों से जीवन्तता का प्रश्न प्रमुख रहा है। अवसरवादिता की काली छाया से इस आन्दोलन के राष्ट्र प्रभावित हो रहे हैं। सशक्त नेतृत्व जो इस आन्दोलन का आधार था, दुर्भाग्यवश उसमें कमी आई है। शीत-युद्ध की समाप्ति के बाद इस आन्दोलन की कोई नई दिशा परिलक्षित नहीं हो रही है। द्विपक्षीय मसले इसके मंचों पर उठाये जाने लगे हैं। पारित प्रस्तावों को अमल में लाने में अपेक्षित सफलता इस आन्दोलन को नहीं मिल पाई है। आतंकवाद की कुदृष्टि से ग्रस्त आन्दोलन की धारा निःशस्त्रीकरण पर कमजोर हो रही है।

भूमंडलीकरण के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की भूमिका सिमट गई है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बदल रहा है। गुटनिरपेक्षता एक सुस्पष्ट विचारधारा के रूप में विख्यात रही है। विदेश नीति के रूप में गुटनिरपेक्षा की प्रासंगिकता निरन्तर बनी रहेगी। हालाँकि शीत-युद्ध प्रतिद्वंद्विता व द्विध्रुवीय कठोरता का

पराभव हुआ है। ऐसे समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दायित्व कम नहीं, वरन् काफी बढ़े हैं। विकसित व विकासशील, अमीर व गरीब राष्ट्रों के मध्य सेतुबंध के कार्य करना, नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जिसमें बाजारवाद की भूमिका प्रमुख है, में नवोदित राष्ट्रों के हितों की रक्षा करना आणविक निःशस्त्रीकरण के लिए विश्व जनमत का नेतृत्व करना, सामूहिक रूप से अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में इस आन्दोलन की भूमिका को महत्वपूर्ण बनाते हैं।

उपर्युक्त कमजोरियों के बावजूद भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की वर्तमान में प्रासंगिकता है। गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में विभिन्न राष्ट्रों के लिए एक नवीन विकल्प का रूप निश्चित रूप धारण कर चुकी है। इसने राष्ट्र-समाज के छोटे-छोटे अपेक्षाकृत कमजोर सदस्यों की स्वतंत्रता और एकता को बनाये रखने में अपना योगदान दिया है। इसने विश्व राजनीति में पूर्ण ध्रुवीकरण को रोककर, विचारधारागत शिविरों के विस्तार तथा प्रभाव को संयत करके तथा विभिन्न गुटों के अंदर भी स्वतंत्रता की शक्तियों को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग का मार्ग प्रशस्त किया है। इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहर और अंदर उपनिवेशों को स्वतंत्र कराने, प्रजातीय समता को साकार करने तथा अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिये बहुत योगदान दिया है।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने अपने मंचों से विश्वशान्ति, उपनिवेशवाद की समाप्ति, परमाणु अस्त्रों पर रोक, निःशस्त्रीकरण, हिन्द महासागर को शान्त क्षेत्र घोषित करना तथा अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था आदि की स्थापना में योगदान दिया है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की बढ़ती हुई संख्या और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके व्यापक प्रभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि आज भी इसका भविष्य उज्ज्वल है।

सदर्भ सूची

कार्ल्सनेस, वाल्टर; एट अल., सं. (2012). हैंडबुक ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस प्रकाशन. आईएसबीएन 97814462650312016-02-24 को पुनःप्राप्त .

डाइविक, सिन्ने एल., जान सेल्बी और रोर्डन विल्किंसन , संपादक. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का क्या मतलब है (2017)

मिमिको, (नहजीम) एन. ओलुवाफेमी (2012)। वैश्वीकरण: वैश्विक आर्थिक संबंधों और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की राजनीति। डरहम, उत्तरी कैरोलिना, संयुक्त राज्य अमेरिका: कैरोलिना अकादमिक प्रेस। आईएसबीएन 978-1-61163-129-6.

बेलिस, जॉन, स्टीव स्मिथ, और पेट्रीसिया ओवेन्स। विश्व राजनीति का वैश्वीकरण: अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का परिचय (2011)

मिंगस्ट, करेन ए., और इवान एम. अर्रेगुइन-टॉपट. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के आवश्यक तत्व (5वां संस्करण. 2010)

मोर्गेथौ, हंस जे. पॉलिटिक्स अमंग नेशंस (1948 और उसके बाद के संस्करण)

नाउ, हेनरी आर. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर परिप्रेक्ष्य: शक्ति, संस्थाएं, विचार (2008)

रोचेस्टर, जे. मार्टिन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मौलिक सिद्धांत (वेस्टव्यू प्रेस, 2010)

रोस्कन, माइकल जी. , और निकोलस ओ. बेरी. आईआर: अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की नई दुनिया (8वां संस्करण. 2009)

अलेक्जेंडर, एफ. (1998). विश्व इतिहास का विश्वकोश. न्यूयॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

New Cambridge Modern History (13 vol 1957-79), thorough coverage from 1500 to 1900

Black, Jeremy. A History of Diplomacy (2010)

Calvocoressi, Peter. World Politics since 1945 (9th Edition, 2008) 956pp excerpt and text search

E. H. Carr Twenty Years Crisis (1940), 1919–39

Kennedy, Paul. The Rise and Fall of the Great Powers Economic Change and Military Conflict From 1500-2000 (1987), stress on economic and military factors

Kissinger, Henry. Diplomacy (1995), not a memoir but an interpretive history of international diplomacy since the late 18th century

Schroeder, Paul W. The Transformation of European Politics 1763-1848 (Oxford History of Modern Europe) (1994) 920pp; history and analysis of major diplomacy

Taylor, A.J.P. The Struggle for Mastery in Europe 1848–1918 (1954) (Oxford History of Modern Europe) 638pp; history and analysis of major diplomacy

Stéphane Beaulac: “The Westphalian Model in defining International Law: Challenging the Myth”, Australian Journal of Legal History Vol. 9 (2004), <https://web.archive.org/web/20121213173805/http://www.austlii.edu.au/au/journals/AJLH/2004/9.html>

Krasner, Stephen D.: “Westphalia and all that” in Judith Goldstein & Robert Keohane (eds): Ideas and Foreign Policy (Ithaca, NY: Cornell UP, 1993), pp. 235–264

